प्राचीन महाकवि

लेखक

रामलाल सावल एम० ए०

●

प्रकाशक
भारती सदन
२०, मॉडल बस्ती
दिल्ली

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
१०, दरियागंज
दिल्ली

प्राक्कथन

इस पुस्तक में प्राचीन युग के सात सर्वोत्कृष्ट हिन्दी-कलाकारों की जीवनियों एवं रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ये सातों-के-सातों महाकवि अपने-अपने क्षेत्र का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, केशव और बिहारी ये सातों महान् कलाकार हिन्दी के गौरव हैं। अब तक ऐसी किसी भी पुस्तक के दर्शन नहीं हुए जिसमें इन सातों की प्रत्येक रचना का विशद विवेचन एकत्र मिल सके। इस अभाव की पूर्त्ति के उद्देश्य से ही प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। उच्च श्रेणियों के छात्रों को यदि इस पुस्तक से अपने अध्ययन में कुछ भी लाभ प्राप्त हो सका तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

अलवर

रामलाल सावल

महाकवि-सूची

महात्मा कबीर

विषय-प्रवेश

हिंदी-साहित्य में सूर और तुलसी के सुविख्यात 'स्वर्ण-युग' के एक शक्तिशाली अग्रदूत के रूप में महात्मा कबीरदास का आविर्भाव हुआ था। सत्यनिष्ठ कबीर के शक्तिशाली व्यक्तित्व और प्रभावशाली प्रचार से ही सूर और तुलसी के महान् कार्य के लिए पहले ही क्षेत्र तैयार हो गया था। तत्कालीन जन-समुदाय के निम्नोन्नत हृदय-क्षेत्र को समतल बना कर साहित्य-कानन के लिए उपयुक्त उर्वरता प्रदान करना कबीर का कार्य था। उस ऊबड़-खाबड़ भूतल को सूर और तुलसी आदि के रम्योद्यानों के योग्य बनाने का श्रेय बहुत सीमा तक कबीर को है। कबीर का साहित्य दुरूह कह कर छोड़ देने की वस्तु नहीं। उस साहित्य का हिंदी में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जो अद्वितीय है। कबीर एक महान् युग-निर्माता और शक्ति-सम्पन्न क्रांतिकारी महात्मा थे। उन्हें सम्प्रदायवादी अथवा पंथ-निर्माता कहना उनके साथ सर्वथा अन्याय करना है। उनके साहित्य का आद्यन्त अनुशीलन करने से ज्ञात हो जाता है कि कबीर का उद्देश्य कोई पंथ चलाना नहीं था, बल्कि तत्कालीन अनिश्चित स्थिति को निश्चित रूप देकर तत्कालीन परिस्थितियों पर काबू पाने के लिए शांत वातावरण पैदा करके जनता को शान्त, कल्याणमय एवं श्रेयस्पूर्ण मार्ग पर आरूढ़ करना था। कबीर की सम्पूर्ण वाणी मानव की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत है जिनकी अभिव्यक्ति सत्य, दृढ़ता और सरलता से प्राणान्वित है। इन भावनाओं में विवादपूर्ण लौकिकता और विभेदपूर्ण धार्मिकता का मूलोच्छेदन तथा सहयोगपूर्ण मानवता की प्रबल प्रेरणा सर्वत्र विद्यमान है। मानवीयता की दृढ़ नींव पर समाज का उन्नत गढ़-निर्माण ही कबीर का जीवन-लक्ष्य था, न कि किसी नये पंथ की स्थापना।

पंथ-स्थापन तो कबीर के शिष्यों और भक्तों ने उनके देहावसान के उपरान्त किया था। कबीर का लक्ष्य तो भक्ति-समन्वित मानव-भावनाओं को मनुष्य-मात्र के हृदयंगम कराकर उसे मानव-समाज का योग्याधिकारी बनाना था। घृणा, द्वेष और भेदभाव से पूर्ण तत्कालीन समाज की यही प्रमुख आवश्यकता थी, जनता की भारी मांग थी। उसी काल की नहीं, यह मांग तो सभी युगों और सभी समाजों की मांग है। इस मांग को पूरा करने में कबीर ने जो कुछ किया वह उन्हें उस काल की ही नहीं, सभी कालों की, उस समाज की ही नहीं, सभी समाजों की अनन्य विभूति स्वीकार करने के लिए पर्याप्त है। अतः कबीर न केवल अपने युग के निर्माता और महाकवि थे बल्कि वे विश्व-समाज और विश्व-साहित्य की उत्कृष्ट विभूति हैं। कबीर की वाणी का उत्तरोत्तर अध्ययन और मनन विद्वानों में इस धारणा को दृढ़ बनाता जा रहा है कि विश्व-साहित्य में भी कबीर एक उत्कृष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

तत्कालीन परिस्थितियां—

कबीर के प्रभाव और महत्त्व को अच्छी तरह समझने के लिए उस काल की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिज्ञान आवश्यक है। स्थानाभाव के कारण अति संक्षेप में हम इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि मुसलमानी शासकों का उद्देश्य केवल सल्तनत कायम करना न होकर मजहब फैलाना भी था। किन्तु भारतीय जनता अपने धर्म और संस्कृति के प्राचीन आदर्श के सम्मुख इस नवीन मजहब को अपनाने के लिए तैयार नहीं हुई। फलतः विजय-गर्व और मजहबी आवेश में आकर मुसलमानी शासकों ने देव-मन्दिरों को गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदें बनाना आरम्भ कर दिया, इस्लाम-धर्म को ग्रहण करने के लिए हिन्दुओं पर बल का प्रयोग किया गया। यहां तक कि इसी आड़ में हिन्दुओं की बहु-बेटियों पर भी नाना प्रकार के अत्याचार ढाये जाने लगे। राजनैतिक पराजय से जहां एक ओर हिंदुओं के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह की भावना का

ह्रास हुआ वहाँ दूसरी ओर वे इन नाना अत्याचारों से और भी अधिक पीड़ित हो गये। अब तो ईश्वरीय स्मरण के अतिरिक्त उनके पास और कोई साधन नहीं रह गया था। यही कारण है कि हिन्दुओं के हृदय में, घृणा, भेद-भाव और द्वेष जोर पकड़ने लगे, जिससे धार्मिक कट्टरता को प्रश्रय मिला। धर्म और संस्कृति की रक्षा के हेतु बाह्याचारों एवं छूत-अछूत आदि आडम्बरों का परिपालन एक प्रकार से नितांत आवश्यक हो गया। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में अनाचार की वृद्धि हो रही थी। भारत अनेक सम्प्रदायों एवं पंथों का अखाड़ा बनता जा रहा था और बाह्या-डम्बरों की प्रधानता होती जा रही थी, जैसे सिद्ध-सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय और भक्ति-सम्प्रदाय आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथ-सम्प्रदाय हठयोग या सिद्ध-सम्प्रदाय का ही एक परिष्कृत रूप था, जिसमें ईश्वर को बाहर न ढूंढ कर घट के भीतर ही ढूंढने का प्रयास किया गया। दक्षिण-भारत में रामानुज आदि द्वारा भक्ति का प्रबल प्रचार किया जा रहा था। रामानुजाचार्य के शिष्य स्वामी रामानन्द ने उत्तरी भारत में भी आकर वैष्णव धर्म का प्रचार किया, जिसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि हिन्दुओं के समान निम्न जातियों एवं मुसलमानों के लिए भी इस धर्म के द्वार खुल गये। कहना अनावश्यक न होगा कि आगे चल कर इसकी निर्गुण-धारा के प्रवर्त्तक कबीर और सगुण-धारा के तुलसी हुए। अन्त में सामाजिक क्षेत्र का भी अस्त-व्यस्त होना स्वाभाविक ही था। युद्धों की अटूट शृंखला ने सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया था। वर्ण-व्यवस्था में विशृंखलता उपस्थित हो गई थी। नई-नई जातियों और उपजातियों के प्रादुर्भाव से रीति-रिवाजों में, बाह्याडम्बरों में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई थी। शिक्षा की व्यवस्था न होने तथा स्त्रियों का पद गिर जाने से समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। इस प्रकार उस समय देश की अवस्था अत्यन्त आतंकपूर्ण थी। ऐसी विकट दशा में ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो जनता को ऐसा मार्ग प्रदर्शित करे जिससे उनके आतंकपूर्ण हृदय को सान्त्वना मिल सके। कबीर ऐसे ही महापुरुष प्रमा-

णित हुए। उन्होंने धार्मिक अव्यवस्था को ठीक करने के लिए एक 'सामान्य धर्म' और सामाजिक गड़बड़ को मिटाने के लिए एक 'सामान्य समाज' का आदर्श उपस्थित किया। इसमें उनके अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रभाव भी विशेष था। कबीर का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने एक कुशल वैद्य के समान जनता के भयानक रोग का निदान कर उसकी उचित औषध खोज निकाली, और साथ ही उपयुक्त परिचर्या और पथ्यादि का निरूपण कर दिया। पंडित हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी इस विषय पर लिखते हैं—"उन्होंने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल ग़लती नहीं की। यह औषध है—भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान् में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषधि का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है—वाह्याचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में ग़लती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते से हो सकती है। इसमें केवल वाह्याचार-वर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्-विश्वास का अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दुओं और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे।" हिन्दू-मुस्लिम ही क्यों, यदि कभी समस्त संसार की एकता हुई तो वह कबीर के औषध और पथ्य-सेवन द्वारा ही संभव हो सकेगी।

कबीर का सन्त-मत—

जिस सामान्य धर्म का ऊपर संकेत किया गया है वह हिन्दी-साहित्य में निर्गुण-सम्प्रदाय अथवा 'सन्त-मत' के नाम से प्रसिद्ध है। कबीर को इस सम्प्रदाय व मत का प्रवर्त्तक कहा जाता है। वैसे तो यह विचारधारा, जिसे ये नाम दिये गये हैं, बौद्धों, सिद्धों और नाथपंथियों की वाणी में भी दृष्टिगोचर होती है, पर उनमें यह बीज अंकुरित होकर ही रह गया

था। इस निर्गुण-भावना को उस समय अधिक व्यवस्थित रूप न मिल सका। उसे विकास की ओर ले जाने वाले कबीर ही हुए। अनीश्वरवादी सिद्धों ने जिस सहज-साधना का प्रचलन किया, उसे ही ईश्वरवादी नाथ-योगियों ने योगसाधना के रूप में अपनाया और इन दोनों पद्धतियों का ही विकसित रूप सन्तों की भक्ति-साधना में प्रतिफलित हुआ, यह निर्विवाद है। सिद्धों और नाथों की विचारधारा का ही अधिकांश में सन्तमत में विकास हुआ। सिद्धों का विचार-स्वातन्त्र्य एवं खरी आलोचना-पद्धति नाथों से प्रतिपादित होती हुई क्रमशः कबीर तथा उनके अनुयायी सन्तों द्वारा विकास को पहुँचती दिखाई देती है। सिद्धों व नाथों के समान इन सन्तों ने भी वेद-शास्त्र, पूजा, अर्चनादि बाह्याचारों को व्यर्थ घोषित किया, जाति-पांति में अनास्था दिखला कर ऊँच-नीच, हिंदू-मुस्लिम सब को समान माना तथा सब के साथ मानव के नाते सम-व्यवहार का प्रचार किया। इनका ईश्वर भी नाथों के ईश्वर के समान घट-घट-वासी है, और उसका साक्षात्कार अन्तर्मन को ही होता है—वह निर्गुण, निराकार, ज्योतिःस्वरूप है। सन्तों से पूर्व उक्त विचारधारा को विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों तथा कुछ अंशों में सूफ़ीमत में भी प्रश्रय मिला था। महाराष्ट्र के नारकीय सम्प्रदाय के महात्मा ज्ञानदेव और नामदेव के निर्गुणवाद में तो यह विचारधारा निखर ही रही थी। परन्तु स्वामी रामानन्द जी के आशीर्वाद से महात्मा कबीर ने इस विचारधारा को दृढ़ और बलवती बना दिया, एवं इसमें निर्गुण-भक्ति का समावेश कर उसे एक निश्चित स्वरूप दे दिया।

स्पष्ट है कि यद्यपि यह विचारधारा नितान्त नवीन न थी तो भी कबीर को इस कारण अधिक श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इस प्रयत्न-बोध्य निर्गुण-भावना तथा तन्निहित समन्वय-भावना को जिस बोध-गम्य, स्पष्ट एवं विधेय रूप में और जिस अदम्य साहस और बल के साथ उपस्थित किया, वह कबीर सरीखे निर्भीक, निष्कपट, निष्पक्ष एवं विश्वास-श्रद्धा-संयुक्त महात्मा का ही काम था। कबीर अशिक्षित होते हुए भी

परम प्रतिभा-सम्पन्न, युग-निर्माता और सफल लोकनायक हो गये। उन में जनता के हृदय को वश में कर लेने की अलौकिक शक्ति थी। यही कारण है कि कबीर की वाणी आज भी उतना ही प्रभाव रखती है जितना कि उस समय रखती थी। अधिक क्या कहें, वर्तमान युग के कविकुल-गुरु रवीन्द्र जी एवं सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी भी कबीर के वचनामृत का पान करते-करते मुग्ध हो जाया करते थे। विश्व-भ्रातृत्व की उदात्त भावनाओं को सक्रिय रूप देने वालों के लिए कबीर की अमृतवाणी आज भी न केवल आकर्षण बल्कि व्यवहार की वस्तु है। कबीर विश्व-भ्रातृत्व-भावना के सर्वप्रथम उन्नायक एवं प्रवर्त्तक थे, इसमें संदेह नहीं। यह कहना कि इस विषय में उन पर ईसाई-धर्म का प्रभाव था, नितान्त भ्रामक है क्योंकि यह धारणा उपर्युक्त विवेचना से गलत सिद्ध होती है।

कबीर को जिस सामान्य धर्म का प्रतिपादक कहा जा सकता है उसमें तत्कालीन समस्याओं का सुलझाव तो था ही, भावी संसार के लिए भी भेदभावोच्छेदन का पथ-प्रदर्शन है। इस धर्म का विवेचन करते समय चार प्रमुख तत्त्व ज्ञातव्य हैं :—

(१) ईश्वर—कबीर ने ऐसे ईश्वर की प्रतिष्ठा की, जो उस समय और अब भी हिंदू और मुसलमान, दोनों धर्मों को ग्राह्य और सभी सम्प्रदायों को मान्य हो सकता है। कबीर का ईश्वर एक है और साकार-निराकार से परे है। वह पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म एक अनुपम तत्त्व है :—

मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय।
साहब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥
जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप वास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥
निर्गुण की सेवा करो सर्गुन को करो ध्यान।
निर्गुन-सर्गुन से परे तहां हमारे ज्ञान॥

कबीर का ईश्वर 'दृश्य' न होकर 'अनुभूति-ज्ञेय' है, केवल आत्म-ज्ञान

से ही जाना जा सकता है। यह कथन का विषय नहीं, केवल अनुभव की वस्तु है।

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे की वस्तु नहीं देख्यां ही परवान॥

वह प्रत्येक कण-कण में व्याप्त, ज्योतिःस्वरूप, अलख और निरंजन है। उसका रूप कबीर के नीचे लिखे रूपक में स्पष्ट कर दिया है :——

अछय पुरिस इक वृच्छ है निरंजन वाको डार।
तिरदेवा साखा भये पात भया संसार॥

वह सबका स्रष्टा व पालनकर्त्ता है। वह सब में और सब उसमें हैं। अपनी लीला के विस्तार से वह इस नाम-रूपात्मक जगत् का सृजन करता है और जब चाहता है इस संसार को अपने में समेट लेता है :—

इनमें आप, आप सबहिन में, आप आपसूं खेलै।
नाना भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै॥

कबीर ने स्थान-स्थान पर 'निर्गुण राम' की उपासना के लिए आग्रह किया है—

निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखि न जाई।
चारि वेद जाके सुंमृत पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां।

× × ×

कहै कबीर जाके भेद नाहीं, निजजन बैठे हार की छाई॥

इस प्रकार कबीर सब को उस हरि की शरण में आने का आदेश देते हैं जिसे वेद और पुराण, स्मृति, व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी नहीं जान सके।

परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरि को नाम अभैपददाता कहै कबीरा कोरी॥

कबीर कोरी का यह कथन गांठ बांधने योग्य है कि हरि का नाम-जपन ही अभय पद का दाता है।

कबीर के इस 'निर्गुण राम' की विशेषता यह है कि न तो वह

हिन्दुओं का 'दशरथसुत राम' है और न मुसलमानों का 'एकेश्वरवाद-समर्थित बाह्यार्थ-मूलक रहीम' ही। वह तो निर्गुण और सगुण दोनों से परे एक ज्योति है जो सब की स्रष्ट्री है, चाहे वह उसमें आस्था रखता हो चाहे नहीं। अतः उसमें आस्था रखनेवाले के लिए आस्था न रखनेवाला व्यक्ति भी निन्द्य और हेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो आस्तिक-नास्तिक सब का स्रष्टा है। अतः हिन्दुओं के लिए मुसलमान और मुसलमानों के लिए काफ़िर घृणा का पात्र कैसे हो सकता है :—

अल्ला एकै नूर उपनायो, वाकी कैसी निन्दा।
ता नूर तें सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा॥

अतः कबीर की ईश्वर-भावना बाह्यार्थमूलक न होकर अन्तर्मूलक है जिसके अनुसार भगवत्सृष्ट प्रत्येक वस्तु समान है, सारी खलक जब उसी की है तो प्रिय-अप्रिय का प्रश्न ही क्या ?

कबीर का यह ईश्वर निरंजन राम है जो सब से न्यारा है। देखिए :—

"राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।" इत्यादि

राम ही एकमात्र निरंजन है, शेष सब-कुछ देव, देवता, दान, पुण्य, व्रत सब कलुष हैं। अकलुष तो केवल राम है जो सबसे विलक्षण, सब के अतीत है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के निर्गुण राम की सूक्ष्म व्याख्या करने के पश्चात् यह स्वीकार किया है कि कबीर पर इस सम्बन्ध में नाथपंथी लोगों के 'द्वैताद्वैत-विलक्षण-समतत्त्व-वाद' का सीधा प्रभाव पड़ा है। जिस स्वयं-ज्योति सच्चिदानन्द की उपासना ये योगी करते हैं वह भी कबीर के राम के समान सर्वसृष्टि, देवादि एवं जप-तप-यज्ञादि सब से परे है और स्वयं-ज्योति, सत्य-स्वरूप है। इसी प्रकार कबीर हठयोगियों के समान वेद-शास्त्रादि ग्रंथों के पठन-पाठन का भी विरोध करते हैं जिस पर आगे विशेष कहा जायगा। यहां तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि यद्यपि कबीर की यह ईश्वर-भावना नाथ-योगियों से प्रभावित है, पर कबीर की ईश्वरोपासना नाथों के योग से भिन्न है। साधना के प्रसंग में आगे चलकर इस पर विस्तार से कहा जायगा। यहाँ

यही कह देना काफ़ी है कि कबीर नाथपंथ से प्रभावित होते हुए भी नाथ-पंथानुगामी नहीं हुए। वस्तुतः कबीर के मत से भगवान् के निर्गुण होने का अर्थ सगुण-निर्गुणातीत होना है। आचार्य हज़ारीप्रसाद ने 'कबीर' के 'निरंजन कौन है' वाले अध्याय में विशद आलोचना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यह दोनों बातें अर्थात् भगवान् को निर्गुण, निरंजन और निराकार कहना असंगत नहीं है। क्योंकि भगवान् अलौकिक गुणों के आश्रय हैं। और इसीलिए जो बातें परस्पर-विरोधी दीखती हैं वे भगवान् में संगत हुआ करती हैं।

परन्तु यह भी स्मरणीय है कि कबीर का ईश्वर सगुण ब्रह्म नहीं। कुछ लोगों को यह भ्रमात्मक धारणा हो गई है क्योंकि कबीर की वाणी में हरि, गोविन्द, केशव, माधव, अल्लाह, करीम, रहीम आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वह न तो पौराणिकों के अवतार हैं, न मुसलमानों के अल्लाह हैं। आचार्य द्विवेदी इस विषय में सावधान करते हुए कहते हैं:—
"उनका अल्लाह अलख निरंजन देव है, जो सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो संसार-रूप में विस्तृत है। उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है। उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है, उनका खुदा वह है जो दस दरवाज़ों को खोल देता है, 'रब' वह है जो ८४ लाख योनियों का परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, ...'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र पति या योगी है—जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैग़म्बर हैं, वे सब एक ही की पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरम्पार है इसका स्वरूप। वही कबीर का भगवान् है।" यह कथन कबीरदास जी की निम्न पद की व्याख्या है—

अलह अलख निरंजन देव, किहि बिधि करों तुम्हारी सेव।
.. ..
.. ..
सिध साधू पैग़म्बर हूवा, जपै सो एक भेष है जूवा।
अपरंपार का नाउं अनंत, कहौ कबीर सोई भगवंत॥

सारांश यह कि कबीर का ईश्वर भारतीय ब्रह्म ही है। त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत-विलक्षण, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेम-पारावार भगवान् ही उनका निर्गुण 'राम' है, जो समस्त ज्ञान-तत्त्व से भिन्न है, फिर भी सर्वमय है; वह केवल अनुभवगम्य है; तभी कबीर उसे 'गूंगे का गुड़' कहते हैं। वह किसी भी दार्शनिक वाद के मापदंड से परे, तर्कातीत एवं शास्त्राध्ययनादि से अगम्य है। पर वह प्रेम से पाया जा सकता है—अनुभूति का विषय है। यही कबीर का निर्गुण राम है।

(२) माया—कबीर माया की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। भारतीय वेदान्त-ग्रंथों में माया के दो रूप माने गये हैं—एक माया और दूसरा अविद्या। पहली ईश्वर की उपाधि है और दूसरी जीव की। इसीलिए माया को सारे संसार को चलानेवाली माना है। मायोपाधिक चैतन्य ही तो ईश्वर है। परन्तु कबीर माया को ही स्वीकार करते हैं। उनकी माया में अविद्या भी सम्मिलित है। यद्यपि कबीर ने भी माया के दो रूप माने हैं—'माया के दुई रूप हैं सत्य मिथ्या संसार'; पर यह दोनों रूप वेदान्तिक रूपों के समान नहीं समझे जा सकते। कबीर की माया के दो रूप 'सत्य-माया' और 'मिथ्या-माया' हैं। पहली ईश्वर-प्राप्ति में सहायक और दूसरी बाधक है। 'माया दुई भांति देखी ठोक वजाय। एक गहावै राम पं एक नरक लै जाय।' कबीर ने माया को अविद्या से अलग नहीं देखा। पर वेदान्त के कुछ ग्रंथों में माया और अविद्या को एक भी कहा गया है। कबीर इसी मत से सहमत थे। पर कबीर की यह माया भी 'रघुनाथ की माया' है और 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियों के परब्रह्म से है। सो कबीर माया के विषय में भी वेदान्त से ही प्रभावित हैं।

तू रघुनाथ की खेलणा चली अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नेड़ै॥ इत्यादि
साषित कै तूं हरता-करता हरि भगतन की चेरी।
दास कबीर राम कै सरने ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥

कबीर के अनुसार यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने

निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसे हुए मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी सब को मार रही है। सो माया ही उनके मत से जीवों को भरमाती है। कबीर ने माया के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और उसके प्रति साधकों को विशेष चेतावनी दी है।

'कबीर माया मोहिनी हरिसूं करै हराम।' यह भगवान् से मनुष्य को विमुख करनेवाली है। यह महाठगिनी है—'माया महा ठगिनी हम जानी।' कबीर ने इस माया के तीन गुण माने हैं—'माया के गुण तीन हैं जनम, पालन, संहार।' इस माया ने उन्हें भी भुलावे में डालने का प्रयत्न किया पर गुरुकृपा से वे बच गये।

कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खांड।
सतगुरु की किरपा भई नहीं तो करती भांड॥

तथा— निरगुन फांस लिये कर डोलै बोलै मधुरै बानी।

अपनाने में माया खांड के समान मीठी, पर परिणाम में विष के समान घातक है। उसका जाल बहुत दृढ़ है, उसके फंदे से बचना सरल नहीं। उससे तो सद्गुरु बचा सकता है या राम की शरणागति।

माया को कबीर ने सर्व दुःखों का मूल माना है, वह मनुष्य का नाश करनेवाली है, और मोहक इतनी है कि मनुष्य के लिए उसे त्यागना अति कठिन है।

मीठी मीठी माया तजि न जाय। अज्ञानी पुरिस को भोलि भोलि खाय॥

वह सब प्रकार की विषय-वासनाओं की जननी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर उसके पांच पुत्र हैं जो मनुष्य के अधःपतन के कारण हैं।

इक डाइन मेरे मन बसै, नित उठि मेरे जिय को डसै॥
या डाइन के लरिका पांच रे, निसिदिन मोहि नचावै नांच रे॥
पांच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटै दिवस असमंझा।
जो गढ़पति मुहुकम होई, तौ लूटि न सकै कोई॥

इस माया-जाल से वही बच सकता है जिस—

जन को काम क्रोध व्यापं नहीं, त्रिष्णा न जरावं ।
प्रफुलित आनंद में, गोविंद गुन गावं ॥

कबीर माया को सर्वत्र प्रसारित मानते हैं—

माया जल-थल माया अकासि । माया व्यापि रही चहुं पासि ॥

उनके अनुसार माया ही मनुष्य को सांसारिकता में लिप्त करती है और उसके साधना-मार्ग में बाधक बनती है। केवल 'राम का आधार' ही उससे बचा सकता है। हो सकता है कि जिसे सूफ़ी-मत में 'शैतान' कहा गया है वही कबीर के मत में माया हो। जैसे शैतान उनकी इबादत में बाधक होता है वैसे माया भक्ति-मार्ग में। इसीलिए कबीर का यह सिद्धान्त भी दोनों धर्मों को मान्य हुआ।

(३) साधना-पथ—कबीर के मत का तीसरा तत्त्व साधना-सम्बन्धी है। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए कबीर ने हठयोग को भी अपनाया प्रतीत होता है। देखिए :—

अवधू जोगी जग थें न्यारा।

(कबीर ग्रन्था० पृ० १०९ पद्य ६९)

योग की साधना-पद्धति भारत में पहले से ही चली आती थी। नाथ-सम्प्रदाय ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए विशेषतः इसी हठयोग-पद्धति को ही अपनाया। परन्तु कुछ लोगों का मत है कि दुरूह होने के कारण इस पद्धति को कबीर ने जनसाधारण के लिए उपयुक्त न समझ इसे केवल सन्तों के लिए अंगीकृत किया—"अवधू ! गगनमंडल घर कीजं।"

डा० रामकुमार कबीर के साधना-पथ में हठयोग का प्रमुख स्थान नहीं मानते। उनका कथन है—"जो लोग संतों के साधना-पथ में हठयोग का प्रमुख स्थान मानते हैं, वे भ्रम में हैं। व्यक्तिगत साधना में सन्तों ने भले ही हठयोग के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त की हो, और वे उस पर आस्था भी रखते हों, पर सन्त-मत ने जिस साधना-पथ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है उसकी सहज भावना में हठयोग के समस्त प्रतीक रूपक से अधिक कुछ नहीं माने जा सकते। सन्त-मत की मूल भावना तो

'सन्तो सहज समाधि भली' में ही सन्निहित है। वे सहज साधना में ही विश्वास रखते थे।" आचार्य हज़ारीप्रसाद जी का भी ऐसा ही मत है। वे इस सम्बन्ध में विश्वास के साथ कहते हैं—"हम तो दृढ़ता के साथ कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भक्ति और भगवद्-भावना में न तो मुक्ति से विरोध है और न शास्त्र से। कहीं जो विरोध दीखता है उसका कारण ऐतिहासिक है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योग-मार्ग की ओर झुके हुए थे। उनके कुल में और कुलगुरु-परम्परा में वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बाद में उनका समागम रामानन्द से हुआ। यह बात कुछ असंभव नहीं कि रामानन्द के प्रभाव में आने से पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत से पद लिखे हों जिनसे योग-सम्प्रदाय की परम्परा-प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति-रस का लेश भी न हो। कबीर जैसा फक्कड़ जिस चीज़ को ग़लत समझेगा उससे इसलिए अनन्त काल तक चिपटा नहीं रहेगा कि वह कुल-परम्परा से आई है।" इससे यह ज्ञात होता है कि स्वामी रामानन्द के सम्पर्क में आने के पश्चात् उन्होंने ज्यों ही सहज समाधि की दीक्षा ली, आंख मूंदने और कान रूंधने के टंटे को नमस्कार कर दिया। गुरु-प्रसाद से हठयोग के झंझट से छुटकारा पाकर उन्होंने खुली आंखों से भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा। खुले कानों से ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सब समय समाधि का आनन्द पाया और उल्लसित हो घोषणा की—

साधो, सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिन से उपजी, दिन दिन अधिक चली॥ आदि

कबीर ने कहा कि "सन्तो भक्ति सतो गुरु आनी।" सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त यह भक्ति वही है जिसे कबीर ने सहज समाधि कहा है। कबीर का भगवान् निर्गुण राम है। यह निर्गुण यद्यपि वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म से मौलिक भेद रखता है तो भी यह रूप-रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव से परे है। ऐसे निर्गुण की भी भक्ति करना कठिन नहीं। 'कबीर' के ११वें अध्याय में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने यह

सिद्ध कर दिया है कि भक्ति भगवद्-विषयक प्रेम को ही कहते हैं और यह निर्गुण के साथ भी संभव है। "भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है—अनन्य भाव से भगवान् की शरणागति, अहेतुक प्रेम, बिलाशर्त आत्म-समर्पण। और कबीरदास में इन बातों की चरम परिणति हुई है।" आचार्य जी ने अनेक उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि कबीर की सहज भावना भक्ति-मार्ग ही है।

कबीर की भक्ति वैराग्य-प्रधान है। वैराग्य की चरमावस्था द्वारा सांसारिकता से पूर्ण विमुख होकर भगवत्-शरण-ग्रहण ही कबीर का मार्ग है। ज्ञानमार्गियों का निर्गुण निराकार ब्रह्मवाद नीरस चिन्तन का विषय है, पर कबीर ने इस शुष्क चिन्तन को प्रेम के सरस सम्मिश्रण से रसमय बना दिया है। कबीर के वैराग्य की परिणति सच्चे और अनन्य प्रेम में होती है। संसार से विरक्ति और राम में चरम आसक्ति ही कबीर के साधना-मार्ग की विशेषता है। कबीर का साधक अपनी रागात्मकता को संसार में रहते हुए भी संसार से हटाकर पूर्णरूपेण ब्रह्म में प्रवृत्त कर देता है। वे साधक को सभी प्रकार के उत्सर्ग का आदेश देते हैं और ईश्वरीय चिन्तन में लीन हो प्रेम-सागर में अवगाहन करने को कहते हैं। "सिर सौंपे सोई पीये, नहिं तो पिया न जाइ" चरमोत्सर्ग से ही प्रेमामृत उपलब्ध होता है।" सिर सौंपने पर ही "नीझर झरै अमीरस निकसै तिहि मदिरावलि छाका।" और यह सुरा वह है जिसका मद कभी उतरता ही नहीं। जिसने इसे पी लिया वह सुध-बुध भूल अमिट मस्ती में झूमता रहता है—

हरिरस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहे, नाहीं वाकी सार॥

इस हरिरसपान के लिए साधक को प्रिय के आगे पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण करना होता है। इस समर्पण में वह दृढ़ भावना काम करती है जिसके अनुसार साधक का सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। वह अपने बाहर-भीतर उस परम चेतना के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का अनुभव

करता ही नहीं, आत्म-समर्पण द्वारा वह आत्मोत्सर्ग की चरमावस्था को पहुंच 'अहम्' को पूर्णतया खो देता है और सर्वत्र राम ही राम के दर्शन करता है :—

तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥

यह दशा कोरे चिन्तन की न होकर विशुद्धानुभूति की है। तभी साधक मृत्यु से मुक्त होकर स्वतः पुकार पुकार कर कहता है :—

हम न मरं मरिहै संसारा, हमकूं मिल्या त्रिवावन हारा ॥
अब न मरौं मरण मनमानां, तेई मुए जिन रांम न जांना ॥
राम मरं तो हम मरं, हमरी मरं बलाय ॥
सत पुरिस का बालका, मरं न मारा जाय ॥

यह यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साधना में प्रेम-पद्धति का यह सम्मिश्रण कबीर ने सूफ़ियों से ग्रहण नहीं किया, बल्कि यह तो उनके गुरु रामानन्द जी का ही भक्ति-सिद्धान्त है। कबीर ने बार-बार इसे गुरु-प्रसाद ही कहा है। अतः यह धारणा युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती कि यह सूफ़ी मत का ही प्रभाव था। हां, सूफ़ियों में यह प्रचारित थी, इससे मुसलमानों को भी कबीर के साधना-मार्ग में आपत्ति नहीं हो सकती थी। यदि यह सूफ़ी मत का ही प्रभाव होता तो कबीर इसके प्रयोग की भारतीय पद्धति को क्यों अपनाते, सूफ़ी पद्धति को क्यों नहीं। वे सूफ़ियों के विपरीत ईश्वर को प्रियतम कहकर स्वयं को उसकी 'बहुरिया' क्यों बनाते। हमारी तो यह धारणा है कि यह पद्धति सब प्रकार से भारतीय ही थी। कबीर की साधना-पद्धति में गुरु का बहुत ऊंचा स्थान है। उसका पद भगवान् से भी बढ़कर माना है, क्योंकि वही भगवान् से मिलानेवाला है :—

गुरु गोविन्द दोऊं खड़े काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियौ मिलाय ॥

'गुरु के बिना गत नहीं' में कबीर विश्वास रखते थे। गुरुहीन

यति भी कोरा भिखारी ही है :—

कबीर सतगुरु न मिल्या रही अधूरी सीख ।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीख ॥

(४) बाह्याचार-विरोध—कबीर सच्चे और सरल हृदय के व्यक्ति थे । उनकी 'करनी और कथनी' में अभिन्नता थी । किसी प्रकार भी मिथ्यावाद और पाखंड उन्हें सह्य न था । वह स्वयं जैसे थे वैसे ही दूसरों को भी देखना चाहते थे । यही कारण है कि बाह्याचार व दिखावा उन्हें पसन्द न था । आडम्बर चाहे वाणी में हो अथवा कर्म में, उन्हें अच्छा नहीं लगता था । सक्रिय आचरण उनके चरित्र का प्रधान गुण था । इसीलिए कबीर ने अपने समय के सभी धर्मों के बाह्याचारों की कटु आलोचना की है । इस आलोचना के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं । एक धार्मिक आलोचना, दूसरी सामाजिक और तीसरी वैयक्तिक चरित्र-सम्बन्धी ।

(१) धार्मिक आलोचना—कबीर अपने युग के धर्मगुरु थे । उनके समय में जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है अनेक धर्म और सम्प्रदाय भारत में फैले हुए थे । इन सम्प्रदायों में बाह्याडम्बरों की प्रधानता थी और धर्म का वास्तविक तत्त्व उन्हीं के आवरण में लुप्तप्राय था । कबीर यह देख अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे । इसी क्षोभ को दर्शाते हुए वह कह उठे :—

ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर ।
तार्थे निसि बासुरि गुन रमौं तोर ।
इक पढ़हि पाठ, इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरन्तर, रहैं निवास ॥
इक जोग जुगुति तन हूहि खीन, ऐसे राम नाम सँगि रहै न लीन ।
इक हूहि दीन इक देहि दान, इक करैं कलापी सुरा पान ।
इक तंत-मंत औषध प्रवान, इक सकल सिद्ध राखै अपान ॥
इक तीरथ व्रत करि काय जीति, ऐसे राम-नाम सूं करै न प्रीति ।
इक धोय घ्यूंटि तन होंहि स्याम, यू मुकति नहीं बिन राम नाम ॥

इस प्रकार कबीर ने धार्मिक साधकों में नाना प्रकार की साधनाओं

का प्रचलन देखा परन्तु इन साधकों में राम-नाम में लीन किसी को भी न पाया। उस समय मुनि थे, पीर थे, योगी थे, जंगम और संन्यासी थे, ब्राह्मण थे, मुल्ला थे, पर सभी माया के चक्कर में फँसे हुए थे।

कबीर ने सब जगह घूम-फिर कर देख लिया कि सच्चा धार्मिक दुष्प्राप्य है। सभी सम्प्रदाय अन्धानुसरण में लीन हैं और अपने ही सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझते हुए दूसरों को हीन बतलाते हैं, जिसका स्पष्ट परिणाम घृणा और द्वेषभाव हैं। कबीर ने गुरु-प्रसाद से सत्य को जिस रूप में समझा, उसी के आधार पर सबको चेतना देने का प्रयत्न किया।

कबीर ने देखा कि हिंदू और मुसलमान ये दो नाम ही अनेक झगड़ों की जड़ हैं, परन्तु ये नाम कृत्रिम हैं, वास्तव में न कोई हिंदू है न मुसलमान—

हिंदू तुरक झूठि कुल दोऊँ॥
.. ..
कहैं कबीर, राम भजहू रे, हिंदू तुरक न कोई॥

कबीर ने लोगों को चेताया कि वे दोनों ठीक मार्ग पर नहीं।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करैं बड़ाई गागर छुवन न देई।
.. ..
हिंदुन की हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

कबीर ने देखा कि यह विवाद और पृथकता केवल साम्प्रदायिक आचार-व्यवहार के कारण हैं जिन्हें अत्यन्त प्रधानता दी जा रही है। पहले तो दोनों के देवस्थान ही अलग-अलग हैं—'तुरक मसीति, देहुरे हिंदू, दुहुँ की राम दुहाई,' परन्तु 'जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई।' कबीर ने सब को यह विचारने के लिए कहा कि 'जौरे खुदाई मसीति बसत है, और मुलक किस केरा'—ईश्वर या खुदा को सर्वव्यापक माननेवालों के ये संकुचित विचार ईश्वर की सर्वव्यापकता के विरुद्ध नहीं तो क्या हैं?

कबीर तो मानसिक शुद्धि को ही श्रेयस्कर मानते थे। शुद्ध मन से नाम-जपन करना ही धर्म का मूल तत्त्व है। यह बाह्याडम्बर व्यर्थ है। ये सब दुनिया को रिझाने के कार्य हैं, राम को रिझाने के नहीं। वे माला के धारण करने को भी केवल दिखावा समझते थे : यदि मन में दुर्गंध भरी है तो माला पहनने से क्या ?—

माला पहरचां कुछ नहीं, रुलि मूवा इहि भारि।
वाहरी ढोल्या हींगलू, भीतर भरी भगारि॥

मन की शुद्धि के साथ-साथ अहिंसा, दया आदि से युक्त सरल सच्चे जीवन को ही कबीर धार्मिक जीवन मानते हैं। कबीर की अहिंसा केवल जीव-वध न करने में ही नहीं, वरन् उनकी अहिंसा के अन्तर्गत किसी के दिल तक न को सताना, किसी को दुःख न पहुंचाना भी आते हैं :—

साधु भया तो क्या भया बोलै नांहि विचारि।
हतै पराई आतमा जीभ बांधि तरवारि॥

उनके मत में कटु-जिह्व भी हिंसक ही थे।

जीव-मात्र की समानता कबीर के धर्म का विशिष्ट तत्त्व था। सभी ईश्वर के प्रिय हैं तो फिर किसी एक जीव की वलि से भगवान् कैसे प्रसन्न हो सकते हैं। दया, अलोभ, सत्य और ज्ञान ही धर्म के लक्षण हैं, इनके अभाव में धर्म कैसे संभव हो सकता है :—

जहां ग्यान तहं धर्म है, जहां झूठ तहं पाप।
जहां लोभ तहं काल है, जहां खिमा तहं आप॥

कबीर ने धर्म का आधार अंध-विश्वास से प्रेरित बाह्याडम्बर को न मानकर विचारपूर्ण भक्ति को माना है। पाप, लोभ, अत्याचार और अनाचार को उन्होंने धर्मविरुद्ध घोषित किया। प्रेम को कबीर जीवन एवं धर्म का मूल मन्त्र मानते हैं। यद्यपि कबीर निर्गुणपंथी थे तो भी यह निर्विवाद है कि उनके विचार-दर्शन का आधार प्रेम और अनन्य भक्ति थे। उनके अनुसार सच्चा धर्म वही है जो मनुष्य में केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं बल्कि जीव-मात्र के प्रति प्रेम-भावना की प्रेरणा करता है।

कबीर प्रेम की महिमा गाते नहीं थकते। उनकी प्रेम-भावना चरम कोटि की है, प्रिय में अनन्य तल्लीनता है और प्रिय की असाधारण अनुभूति है। कबीर का प्रेम भावुकता-प्ररूढ़ नहीं, वह ज्ञान से प्रसूत, श्रद्धा से लालित और भक्ति से अनुप्राणित है। यही कबीर का धर्म है।

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारै, भुइँ धरै, तब पैठै घर माहि॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम प्याला जो पियै, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय॥

तुलसी के समान कबीर के भगवत्प्रेम का आदर्श भी पपीहा ही था। इनके प्रेम के प्रतीक भी चातक व मृग ही थे—

साईं से लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूंद का, पिया पिया रट लाई।
प्यासे प्रान तड़फै दिन राती, और नीर न भाई॥
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुनन को जाई।
शब्द सुनै और प्रान-दान दे, तनिको नाहि डराई॥

कबीर ने सब धर्मों को देखा, धर्मावलम्बियों को परखा, परन्तु उन्हें कहीं एक भी ऐसा न मिला जो सच्चे प्रेम का उपासक हो, जिसमें चातक-सी भगवान् के लिए लगन हो और मृग-सी तल्लीनता प्रिय के शब्द में हो।

प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी को प्रेमी मिलै तब सब बिष अंमृत होइ॥

कबीर के पदों में जहाँ-तहाँ अनन्य भक्ति, अनन्य प्रेम सर्वत्र व्याप्त हैं। यही कबीर के सामान्य धर्म की असामान्य विशेषता है। यही उसकी साधना का मूल मन्त्र है। यही कारण था जिसने जनता को उनकी ओर आकर्षित कर लिया था, जिसने उन्हें धर्मगुरु और अनन्य लोकनायक के

पद पर आसीन कर दिया। यही एक असाधारण बात है जो कबीर के पदों की निधि है, और जो तत्कालीन सिद्धों और योगियों की अक्खड़ वाणी में न थी, जो वेदान्तियों के तर्क-कर्कश ग्रंथों में न थी और जो समाज-सुधारकों की हाय-हाय में न थी। भक्ति ही वह रत्न था जिसे अपने गुरु स्वामी रामानन्द से पाकर कबीर कृतार्थ हो गये। वह भक्ति योगियों के पास न थी, सिद्धों के पास न थी, काज़ियों के पास नहीं थी, अवधूतों, मुल्लाओं और पंडितों के पास न थी। यह प्रेम व भक्ति थी राम की, निर्गुण राम की, अनन्त राम की। राम-नाम कबीर को रामानन्द का दिव्य दान था। इसी राम-नाम का अभाव था जिसे देख कबीर ने सब धर्मों के नायकों को खरी-खरी सुनाने का साहस किया और सब धर्मों के बाह्याचारों को आड़े हाथों लिया। प्राण-हीन शरीर जिस प्रकार भर्त्सना के योग्य है उसी प्रकार रामनाम-रूपी प्राणों से विरहित धर्म-कर्म निंद्य नहीं तो क्या है ?

सारांश यह कि कबीर का सामान्य धर्म अंध-श्रद्धा, बाहरी आचार-विचार एवं बाह्याडम्बरों से नितान्त निर्लिप्त है। वह तो मानवता के प्रति सहृदयता से ओत-प्रोत भक्ति-समन्वित ज्ञान की अनुभूति पर आधारित है। धर्म सब के लिए एक है और उसमें भेद-भाव की छाया तक नहीं।

(२) सामाजिक सुधार—कबीर ने अपने समय की उन सब विषमताओं की घोर निन्दा की है जो उस समय समाज में घुस आई थीं और जिनके कारण जाति-पाँति के नाम पर छोटे-छोटे समुदाय बनते जा रहे थे। नाना प्रकार की कुप्रथाओं, रीति-रिवाजों, अंध-विश्वासों आदि का समाज शिकार बनता जा रहा था। इस प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनों बड़े वर्गों के अन्दर भी अनेक उपजातियां बनती जा रही थीं। हिंदुओं में वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त अनेक उपजातियां छुआछूत, खान-पान के विधि-निषेध, चौका आदि और मुसलमानों में शीया, सुन्नी, काज़ी, सक्का, सैयद आदि एवं चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी कराने, कुरबानी छोड़ने, रोज़ा रखने, ताज़िया मनाने आदि अनेक व्यवहार प्रचलित थे जिनका कबीर ने निष्पक्ष होकर चुभती भाषा में विरोध किया

और हिंदू और मुसलमान दोनों की जी भर कर धूल उड़ाई। मुसलमान और हिंदुओं के बीच सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण भेद-भाव की जो ऊंची दीवार खड़ी हो गई थी, कबीर ने उसके विरुद्ध ज़ोरदार जिहाद बोल कर ऐसे ओज और वेग से प्रहार किये कि उस दीवार को नींव से हिला दिया। कबीर निशाने पर चोट करना अच्छी तरह जानते थे और उनका वार शायद ही खाली जाता था। यद्यपि ऐसे उपाय पहले भी किये गये थे परन्तु वे सफल नहीं हुए; वे जनता का ध्यान आकर्षित न कर सके। पर समाज-व्यवस्था को विकृत करनेवाली रूढ़ियों, पाखंड, रीति-रिवाज और मिथ्या आडम्बरवाद आदि सबके विरुद्ध जन-साधारण में विद्रोह-भावना जागृत करने में जो सफलता कबीर को मिली उसका कारण कबीर के व्यक्तित्व का महत्त्व था। कबीर केवल आलोचना करनेवाले सुधारक नहीं थे, वे निजी बात के धनी थे। उनके निजी जीवन-व्यापार में 'कथनी और करनी' में अभूतपूर्व ऐक्य था जो उनकी वाणी में एक असाधारण प्रभाव उत्पन्न करनेवाला था। कबीर जो कुछ कहते थे, वही करते भी थे और जो वे कहते थे पूरा विचार करके कहते थे। उनके सक्रियतापूर्ण जीवन-व्यवहार के कारण उनके व्यक्तित्व में असामान्य शक्ति थी, प्रभाव था, जो अन्यत्र दुर्लभ था।

जिस प्रकार कबीर ने धार्मिक पाखंडवाद पर प्रबल आघात किये, वैसे ही सामाजिक वर्गीकरण, जाति-पांति, छूत-अछूत, और ऊँच-नीच आदि भेदभावपूर्ण कुप्रथाओं पर भी करारी चोटें की हैं। 'साईं के सब जीव हैं' की घोषणा करते हुए उन्होंने हिंदू और मुसलमान दोनों के विरोध को शान्त करने का प्रयत्न किया। सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, फिर हिंदू कौन और मुसलमान कौन? इसी प्रकार जाति-पांति का निषेध करते हुए वे कहते हैं —

एक जाति में सब उतपना, क्या बांभन क्या सूदा ॥

.. ..

जो तू बांभन बंभनीजाया आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया? इत्यादि

उस समय व्यवसाय की श्रेष्ठता और निम्नता के आधार पर भी व्यवसायी वर्ग की उच्चता और निम्नता ठहराई जा रही थी। व्यवसाय भी किसी के ऊँच-नीच होने का माप-दंड माना जाता था। व्यवसाय के आधार पर अनेक उपजातियों का निर्माण हो गया था। ऊँची जातियाँ निम्न व्यवसायवालों से खान-पान तथा अन्य व्यवसायों में छुआछूत का बर्ताव कर रही थीं। कबीर ने इसके प्रति विद्रोह किया। जुलाहा-कुल में पालित-पोषित कबीर दरिद्र और दलित समझे जाते थे। इस श्रेणी के प्रति किये गये दुर्व्यवहार को वे आजीवन न भूले। उनकी नस-नस में इस अकारण दंड के प्रति विद्रोह का भाव भरा था। कबीर ने आजीवन इस जातिगत और व्यक्तिगत ऊँच-नीच की भावना का विरोध किया। 'सबै जीव साईं के प्यारे' की उद्घोषणा कर सबकी समानता का प्रतिपादन किया।

जात-पात पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि कौ होई ॥
तथा— ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ॥

कबीर ने अपने-आपको जुलाहा कहने में कभी संकोच नहीं किया। वे तो मानों डंके की चोट से अपने कुल की बार-बार याद दिलाते हैं। बल्कि महात्मा के उच्च पद को प्राप्त कर असंख्य अनुयायियों के होते हुए भी कबीर स्वयं अपनी आजीविका के लिए जुलाहे का ही व्यवसाय करते रहे और अपने-आपको अन्त तक जुलाहा ही कहते रहे :—

तूं ब्राह्मण, मैं कासी का जुलाहा, बूझौ मोर गियाना।
तथा— जाति जुलाहा का करै हिरदै बसै गुपाल।
कबीर रमइया कंठ मिलु, चूकहि सब जंजाल ॥

इससे कबीर ने परिश्रम की महत्ता का भी प्रतिपादन किया। अपनी आजीविका स्वयं कमाने और दूसरों के आश्रित, परमुखापेक्षी न बनने के स्वयं ज्वलन्त उदाहरण बने रहे। कबीर धन-संग्रह के विरोधी थे। वे व्यवसाय को केवल आजीविका-मात्र का साधन बनाने के ही पक्ष में थे, और यदि उससे अधिक प्राप्त हो तो उसे निर्धन लोगों अथवा सन्त

साधुओं की सेवा में व्यय कर देना उचित समझते थे। उन्होंने सदा ऐसा ही किया, बल्कि अनेक बार स्वयं भूखे-नंगे रह कर भी पर-सेवा में अपना धन लगा देने से कभी संकोच नहीं किया। उनका तो सिद्धान्त था :—

काहे को भीत बनाऊँ टाटी, का जाणूं कहां परिहै माटी।
काहे को मन्दर महल चिनाऊँ, मुवां पीछे एक घड़ी रहन न पाऊँ॥

धन जोड़ने के सम्बन्ध में उन्होंने अपने पुत्र तक की भर्त्सना की :—

बूड़ा बंस कबीर का उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँडिकै घर लै आया माल॥

कबीर ने जातीय पृथकता की भावना की तीव्र शब्दों में निन्दा की है, वे इस पर हृदय से दुःखी प्रतीत होते हैं :—

गहना एक कनक ते गहना, ता मैं भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुई कर पाते, इक नेवाज, इक पूजा॥
कोई हिंदू, कोई तुरक कहावै, एक जमीं पर रहियै॥
बेद कतेब पढ़ै, वे कुतुबा, वे मुल्ला, वे पांडे।
विगत विगत कै नाम धरायो, इक माटी कै भांडे॥
कह कबीर वे दोनूं भूल्ले रामहिं किन्हु न पाया।
वे खसिया, वे गाय कटावैं, बादे जन्म गँवाया॥

इसी प्रकार के विचार उनके काव्य में सर्वत्र भरे पड़े हैं। वे इस बात पर अतीव दुःखी थे कि लोग बाहर के भुलावे में पड़ कर व्यर्थ में जन्म गँवा रहे हैं, भगवान् को पाने की ओर उनका बिलकुल ध्यान न था। कबीर मानव के महत्त्व को समझते थे चाहे उसकी बाह्य वेष-भूषा, आचार-विचार कुछ ही हों। मध्य युग के कुहासे में कबीर के ये अग्रगामी मानवतावादी विचार आलोक की एक तीव्र तीखी स्वर्ण-रेखा हैं जिससे आज भी अंध-विश्वासों में डूबा प्राणी बहुत कुछ प्रकाश पा सकता है।

वस्तुतः कबीर मनुष्य के दुःख से व्यथित हैं, द्रवित हैं, वे उसे मनुष्यता का पाठ पढ़ाते हैं। यदि मन में ईश्वर-भक्ति, दया-धर्म नहीं है तो जाप, तिलक-छापा सब बेकार हैं। अत्यन्त हृदय-द्रावक शब्दों में उन्होंने

इस जग की पीड़ा का वर्णन किया है—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा ।
उदय अस्त की बात कहत हौं, बाकर करो बिबेका ॥
बाढ़ें बाढ़ें सब कोऊ दुखिया, क्या गिरही बैरागी ।
सुक्राचार्य दुख ही के कारन, गर्भे माया त्यागी ॥
जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना ।
आसा त्रिस्ना सब घट व्यापै, कोई.महल नहिं सूना ॥

वास्तव में यह दुःखानुभूति ही थी जिसने कबीर के हृदय में संसार की असारता की छाप लगा दी थी । समाजव्यापी पाखंड और मिथ्यावाद के प्रति उनके हृदय में घृणा जागृत हो गई थी । उन्हें झूठ के आडम्बर और अहंभाव की पराकाष्ठा के दर्शन हुए जिसे देख उनका हृदय द्रवित हो उठा। तभी उनकी वाणी में आडम्बर की कटु निन्दा तथा सत्य, सहृदयता और सत्संग की सर्वत्र प्रशंसा व्याप्त हो रही है । तभी कबीर अपने जीवन में ही इतने लोकप्रिय हो गये । समाज ने उनमें अपना सच्चा हितैषी पाया और पाया सच्चा लोकनायक ।

(३) व्यक्ति का आचार-सुधार—समाज व्यक्तियों का समूह है । समाज को सुधारने का अर्थ उसके घटक, व्यक्ति के आचरण को सुधारना है । धर्म-पालन व संस्कृति-सेवन से अभिप्राय तदनुकूल आचरण निभाना है । कबीर समाज-सुधारक हों या न हों, पर वे व्यक्तिगत साधना के उग्र प्रचारक थे । समष्टिवादी उन्हें चाहे मानें या न मानें पर व्यष्टिवादी वे अवश्य थे । उनकी वाणी व्यक्तिगत नीति के उपदेशों से भरी पड़ी है । उन्होंने यह खूब समझ लिया था कि धर्म की नींव व्यक्ति के आचरण में है, तभी धार्मिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर लौकिक आचरण अथवा व्यवहारों का वर्णन किया है । उनकी साखियों का सम्बन्ध विशेष रूप से लौकिक आचरण से है और पदों का भी अधिकांश सम्बन्ध आचरण से ही है । उन्होंने निवृत्तिमूलक

और प्रवृत्तिमूलक दोनों प्रकार के आचरण पर विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो कबीर की सम्पूर्ण आलोचना किसी जाति या धर्म के समष्टिरूप की विशेष आलोचना न होकर उस परिधि में परिगणित किये जाने वाले व्यक्तियों के आचरण की ही आलोचना है। उन्होंने पंडित को कोसा और मुल्ला का परदा फ़ाश किया, नमाज पर टीका-टिप्पणी की और देवार्चना-विधि की आलोचना की, परन्तु यह सब उस धर्म का या जाति-विशेष के गुरुओं, आचार्यों अथवा मुल्ला-काजियों की व्यक्तिगत आचार-हीनता को लक्ष्य करके ही। उन्होंने न तो किसी जातीय तत्त्ववाद या धार्मिक दर्शन पर विचार प्रकट किये और न उनके खंडन करने का प्रयत्न किया। शायद ही किसी धार्मिक तत्त्ववाद या दार्शनिक सिद्धान्तों अथवा पौराणिक रहस्य या व्याख्या का उल्लेख उनके ग्रन्थों में पाया जाता है। इसी प्रकार वेद-पाठ, तीर्थ-स्नान, तीर्थयात्रा, छुआछूत, कर्मकांड अथवा रोजा-नमाज, हज-रोजे, ताजियादारी आदि सबके विरुद्ध कबीर ने विद्रोह की आवाज उठाई परन्तु कहीं भी इनकी गूढ़ व्याख्याओं अथवा इनकी पृष्ठभूमि के तत्त्ववाद का विश्लेषण कर युक्तियां देकर उनकी आलोचना नहीं की। वास्तव में बात यह है कि इन सब के सार को न तो जानने की उनकी इच्छा ही थी और न इनमें निष्ठा ही। कबीर में शास्त्रार्थ की मनोवृत्ति ही न थी। उन्होंने तो केवल उन बाह्याचारों की, जो इन सब के अनुयायियों में उसने अपने खुले नेत्रों से देखे, व्यर्थता की ओर संकेत किये हैं। उन्होंने तो पंडित, आचार्य, गुरु, नेताओं को चारित्रिक आधार पर बहुत अदना मनुष्यों के समान पाया। उन सबमें मिथ्यावाद था, ढकोसला था और भक्ति और प्रेम का, जो किसी भी धर्म के मूल तत्त्व हैं, सबमें अभाव था। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने सम्प्रदायों के तत्त्व-दर्शन पर आक्षेप न कर उनके ठेकेदारों के ढकोसलों का भंडाफोड़ किया, उनके आचरणों का नया नग्न रूप जन-साधारण के समक्ष रखा। सारांश यह कि कबीर की आलोचना का मुख्य लक्ष्य व्यक्तिगत आचरण

था और इस पर उन्होंने जिस ओज और बल से आघात किये वैसे अन्य कोई नहीं कर सका।

कबीर का लौकिक अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनके उपदेश अधिकतर अनुभवजन्य हैं। वे कल्पना-प्रसूत न होकर अनुभूति-जनित थे, यही कारण है कि उन्हें नैतिक सिद्धान्तों के निरूपण में विशेष सफलता मिली। कबीर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नीति-कवि हो गये हैं। उनकी वाणी में जो ओज है, जो बल और सचाई है वह उनके बाद आने वाले रहीम, वृन्द आदि अन्य नीति-कवियों के भावों में नहीं पाये जाते। कबीर के उपदेश इतने मार्मिक हुए हैं कि राजमहल से लेकर झोंपड़ी तक के लोगों की जिह्वा पर आज भी पाये जाते हैं। उनकी वाणी में संसार की अनित्यता को हृदयांकित कराने का प्रभावशाली प्रयत्न पाया जाता है। स्थानाभाव के कारण इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि कबीर ने साधु-सन्त, धर्मी-अधर्मी, योगी-गृहस्थी, धनी-निर्धन, उच्च-नीच, पंडित-मूर्ख, काज़ी-मुल्ला, पदाधिकारी-सेवक सब को प्रबोधन दिया है कि उन्हें सदाचरण करना चाहिए, धोखे से बचना चाहिए, संसार के मायाजाल में न फँस कर भगवान् की शरण में स्वयं को अर्पित कर देना चाहिए। भगवान् के स्मरण में ही सर्व सुख हैं और उसके विस्मरण में सांसारिक सुख-सम्पत्ति भी सुखदायक नहीं। जीवन का कोई अंग नहीं जिस पर कबीर की उक्तियां न मिल सकें। उन्होंने सब को सीधे मार्ग पर चलने का आग्रह किया है। यह सीधा मार्ग भक्ति और प्रेम का है। उन्होंने सभी को मानवोचित आचरण के उपदेश दिये हैं। उनकी वाणी वह पारस है जिसके स्पर्श से मनुष्य कंचन बन सकता है।

कबीर की साहित्यिकता—

कबीर का व्यक्तित्व जिस प्रकार असाधारण था, उसकी प्रतिभा भी वैसी ही अप्रतिम थी। उनका बात कहने का ढंग अनूठा था, अपना ही था। यही कारण है कि उनकी कविता में एक निराली सरसता है कबीर के काव्य का विषय जितना निराला था उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली

भी उतनी ही अनूठी और वैचित्र्यपूर्ण थी। गुरुदेव रवीन्द्र कबीर को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उनके पदों का अनुवाद करने का लोभ संवरण न कर सके। भारत के राष्ट्रपिता विश्वपूज्य महात्मा जी भी कबीर से विशेष प्रभावित थे और उनके पदों में से एक-न-एक पद का गान करवा कर उनका अभिनन्दन नित्य किया करते थे। यह है कबीर के काव्य का महत्त्व ! कबीर ने यद्यपि कविता के लिए कविता नहीं की और वे काव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों से अपरिचित भी थे, तो भी उनकी अटपटी वाणी में जो अद्भुत जीवनरस भरा हुआ है, वह सहृदय व्यक्तियों को बलात् आकर्षित कर लेता है। 'कबीर का रहस्यवाद' पुस्तक के आरम्भ में ही डा. रामकुमार वर्मा ने कबीर को इस प्रकार श्रद्धांजलि अर्पित की है—"ऐसी स्वतन्त्र प्रकृति वाला कलाकार किसी साहित्य-क्षेत्र में नहीं पाया जाता। ....उसकी शैली भी इतना अपनापन लिये हुए है कि कोई उसकी नकल भी नहीं कर सकता। अपना विचित्र शब्दजाल, अपना स्वतन्त्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भावपूर्ण पर बेढंगे चित्र, ये सभी उसके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब-कुछ उसी का था। छोटी-से-छोटी वस्तु को अपनी लेखनी से उठाना, छोटी-से-छोटी विचारावली पर मनन करना उसकी कला का आवश्यक अंग था। किसी अन्य कलाकार व चित्रकार पर आश्रित होकर उसने अपने भावों का प्रकाशन नहीं किया। वह पूर्ण स्वतन्त्रतावादी था।............यद्यपि वह अपढ़ रहस्यवादी था, उसने 'मसि-कागद' छुआ भी नहीं था, तथापि उसके विचारों की समानता रखने वाले कितने कवि हुए हैं ! जहाँ कहीं भी हम उसे पाते हैं वहाँ वह अपने पैरों पर खड़ा है, किसी का लेशमात्र भी सहारा नहीं।"

'कबीर-ग्रंथावली' की भूमिका में कबीर के बारे में डा० श्यामसुन्दर-दास ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाशन उनका ध्येय है। उनकी विचार-धारा का प्रभाव जीवन-धारा के प्रभाव से भिन्न नहीं। उसमें उनका हृदय

घुला-मिला है। उनकी प्रतिभा हृदय-समन्वित है। उनकी बातों में बल है जो दूसरों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। अक्खड़ ढंग से कही होने पर भी उनकी बेलाग बातों में एक और मिठास है जो खरी-खरी बातें कहने वाले ही की बातों में मिल सकती है। उनकी सत्यभाषिता और प्रतिभा का ही फल ह कि उनकी बहुत-सी उक्तियाँ लोगों की जबान पर चढ़कर कहावतों के रूप में चल पड़ी हैं। हार्दिक उमंग में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यन्त भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है।.... सत्य के प्रकाश का साधन बनकर, जिसकी प्रगाढ़ अनुभूति उनको हुई थी, कविता स्वयमेव उनकी जिह्वा पर आ बैठी है।"

'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में प्रकट किये गये आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के विचार भी उल्लेखनीय हैं—"कबीर मस्त मौला थे। जो कुछ कहते थे, साफ़ कहते थे। जब मौज में आकर रूपक और अन्योक्तियों पर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था। उनकी कविता से कभी सनातन सत्य खर्वित नहीं हुआ। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे। इसीलिए सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियाँ वेधने वाली होती थीं।" आगे चलकर आचार्य द्विवेदी पुनः कहते हैं—"उनके प्रेम और भक्ति में वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो ज़रा-सी आंच से ही पिघल जाय। यह प्रेम ज्ञान द्वारा नीत और श्रद्धा द्वारा अनुगमित था। वियोग की बात भी वे उसी मौज से कह सकते थे जिस तरह संयोग की। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरा से मतवाला था, वह ज्ञान के महुवे और गुड़ से बनी थी। इसीलिए अंध-श्रद्धा, भावुकता और हिस्टिरिक प्रेमोन्माद का उसमें एकांत अभाव है।... तीन प्रकार की बातें वे लिखते थे : ज्ञानी और साधकों को लक्ष्य करके, जनसाधारण के लिए और अपनी मौज में। तीनों में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, छन्दःशास्त्र और अलंकार के ज्ञान से भी वे वंचित थे। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था। फिर भी उनकी उक्तियों

में कविता की ऊँची-से-ऊँची चीज प्राप्य है।... साधना के क्षेत्र में वे युग-गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्यवक्ता। संस्कृत के 'कूपजल' को छुड़ाकर 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।"

इन उद्धरणों के बाद कुछ शेष नहीं रह जाता जिस पर और प्रकाश डालने की आवश्यकता हो। कबीर ने कविता करने की प्रतिज्ञा करके अपनी वाणी नहीं कही थी। उनकी कविता तो उनके सच्चे हृदय से निकले हुए उद्‌गार हैं, प्रयत्न-प्रसूत छंद-रचना नहीं। सच्चे हृदय के उद्‌गार उपकरणों की अपेक्षा नहीं करते, किन्तु उनमें अलंकारादि स्वयमेव आ जाते हैं। कबीर की कविता इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

कबीर की वाणी में ओज है, एक शक्ति है। वे उच्च श्रेणी के अनुभवी थे; उन्होंने सत्य के स्वरूप को पहचाना था, इसीलिए उनके कथन के ढंग में एक अद्‌भुत बल है, प्रभाव है। उन्होंने जो कुछ कहा पूरे आत्म-विश्वास से कहा, जिसका कारण उनका अहंभाव ही नहीं, निर्भ्रान्त निरीक्षण और सत्यानुभूति है। उन्होंने जो कुछ अनुभव किया उस पर पूर्ण विश्वास था, संशय का लेश भी नहीं था। तभी वे पूरे भरोसे के साथ दूसरों पर गहरी चोट कर सकते थे। वे स्वयं छल-छिद्र, कपट-ढोंग से मुक्त थे, तभी उनकी उक्तियों में वह शक्ति है जो आज भी सीधे तीर की भांति हृदय में चुभ जाती है। वास्तव में देखें तो कबीर में युग-प्रवर्तक का विश्वास और लोक-नायक की सहृदयता थी। छिद्रान्वेषण उनका लक्ष्य नहीं था; दोष दिखलाकर किसी को चिढ़ाना उनका मन्तव्य नहीं था, दोष से छुड़वाना उनको अभीष्ट था। अपनी प्रतिभा के बल से प्रत्येक बात को वे चुटीली और व्यंग्यमय बना देते थे। कबीर खूब जानते थे कि कहां, किस रूप में और कैसे आघात करना है। भाषा उनकी अनुचरी थी, जिस रूप में वे चाहते उसी रूप में उनके सामने उपस्थित हो जाती थी। मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध कही गई इस सरल उक्ति को देखिए, जितनी यह सरल है उतनी ही

प्रभावपूर्ण :—

पाहन पूजें हरि मिलें तो मैं पूजूं पहार ।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार ।।

कबीर के प्रभाव का एक कारण उनके दृष्टांत हैं जो नितांत घरेलू जीवन से या आसपास के सुपरिचित वातावरण से ही लिये गये हैं। इन्हीं ने उनकी उक्तियों में जान डाल दी है।

केवल सीधी सच्ची बात कहने में ही नहीं, भाव-सुकुमारता में भी कबीर किसी कवि से पीछे न थे। देखिए प्रेम का एकाधिकार—

नैनों अन्तर आव तू नैन झांपि तोहि लेंव ।
ना मैं देखूं और को ना तोहि देखन देंव ।।

प्रेम की यही अनन्यता है। नैनों में लेने की कल्पना कितनी सुन्दर और सरस है। और देखिए :—

सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आंख न खोलूं डरपता, मत सुपना ह्वै जाय।।

क्या भाव की यह सुकुमारता बिहारी के भी किसी पद में मिल सकेगी? अलौकिक प्रेम में इतनी सरसता लाना कठिन है।

और एक उदाहरण—

साईं केरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदे मांहि ।
पिऊं न पानी डरपता, मत वें धोये जांहि ।।

पानी से धुल जाने की बात कितने सुन्दर रूप में कही गई है। कला की कलाबाजियां, दूर की सूझ जो बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों में देखने को मिलती है चाहे कबीर में न मिले, पर दूर की उस कल्पना से उपर्युक्त भाव-योजना कितनी स्वाभाविक, कोमल और हृदयस्पर्शी है, काव्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं।

शब्द-चित्र खींचने में भी कबीर बहुत कुशल थे। इसमें भी वे किसी से पीछे नहीं थे। गंगा-स्नान को जाने वाली एक स्त्री का निम्न चित्र कितना

सुन्दर बना है :—

चली हैं कुल-बोरनि गंगा नहाय ।
मतुआ कराइन, बहुरि भुंजाइन घूंघट ओटे भसकत जाय ।
गठरी बांधिनि मोठरी बांधिनि, खसम के मूंडे दिहिन धराय ।

कबीर का काव्य कुछ ऐसे चित्रों का खजाना है जिसमें हृदय को उद्वेलित कर देने की बहुत अधिक शक्ति है ।

कबीर की गणना रहस्यवादी कवियों में की जाती है । इस श्रेणी के कवियों में वे आज भी सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित हैं । उनके रहस्य-वाद-संबंधी पद हिन्दी-साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि की कविता से कम नहीं हैं । उनके विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा-वेदना आदि के पद तो हिन्दी-साहित्य में आज भी अद्वितीय माने जाते हैं । उनमें कुछ विशेष सरसता है, प्रयत्न की छाया भी नहीं और अस्वाभाविकता तो ढूंढने पर भी नहीं मिलती । कबीर की सी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार और व्याकुलता की गहराई तो आजकल कलाविज्ञ और काव्य-कुशल रहस्यवादी कवियों में भी देखने को नहीं मिलेगी । आज के कवियों में मन को तृप्ति देने वाली कला की प्रौढ़ता तो चाहे मिल जाय पर हृदय को तृप्त कर देने वाली कबीर की सी आत्मा की पुकार और वेदनामय व्याकुलता के दर्शन नहीं होते । कलात्व-संधान कबीर का काम न था । उनकी तो आत्मा से जो ध्वनि निकली उसी ने कवित्व का रूप धारण कर लिया । कबीर की समग्र कविता उनकी आत्मा की पुकार ही तो है । पर-मात्मा से मिलने की अभिलाषा और तज्जन्य वेदना ही तो कबीर के जीवन का सब कुछ थी, उनका जीवन मिलन की इस इच्छा और विरह-जात वेदना में घुल-मिल गया था । इसी का परिणाम यह था कि उनकी वाणी में जिस स्वाभाविकता, जिस व्याकुलता और आत्मा की जिस प्रति-ध्वनि का सन्निवेश हो गया वह आधुनिक कलाकारों में भी संभव न हो सका । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन यहां उल्लेखनीय है—

"उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य संतों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोक की बात करते रहते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी कहते हैं जहाँ बारह महीने बसन्त रहता है और निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है फिर भी, जैसा कि ऐलविन अंडरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनंदिन व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मर्मी कवियों में ही मिलते हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर के अलौकिक चित्रण भी लौकिक चित्रणों के इतने निकट होते हैं कि उनमें वह दुरूहता एवं दुर्बोधता नहीं होती जो रहस्यवाद की विशेषता कही जाती है, क्योंकि कबीर व्यावहारिक संसार से अधिक दूर नहीं जाते। इतना होते हुए भी उनकी कविता में हठयोगियों के साधनात्मक एवं सूफ़ियों के भावात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। यही नहीं, रहस्यवाद की तीनों अवस्थाओं के चित्र भी कबीर की वाणी में विद्यमान हैं। कबीर का महत्त्व इसी में है कि अशिक्षित होते हुए भी कोई चीज़ उनकी प्रतिभा की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकती थी।

रहस्यवाद की प्रथम अवस्था में आत्मा परमात्मा की दिव्य ज्योति के दर्शन से आकर्षित और चकित हो जाता है—"कहत कबीर पुकारि कै अद्भुत कहिए ताहि।" द्वितीयावस्था परमात्मा से प्रेम करने और मिलन की आतुरता की है। मिलन की आतुरता का जो वर्णन कबीर ने किया है वह अत्यन्त भावुकतामय, करुणापूर्ण एवं मार्मिक है। ऐसे पद्यों में कबीर का कवि-रूप पूरी तरह प्रकट हो गया है। काव्य-पारखियों का मत है कि आत्मा की विरह-वेदना और व्याकुलता जिस मार्मिकता से कबीर के काव्य में प्रकट हुई है सच पूछो तो हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती।

अंबर कुंजां कुरलियां गरजि भरे सब ताल ।
जिनि पं गोविंद बीछुटे तिनि के कवन हवाल ।।
चकवी बिछुरी रैण की आइ मिलै परभाति ।
जे जन बिछुरे राम सौं ते दिन मिलै न राति ।।
आँखडियां झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि ।।
सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ।।

संयोग-जन्य हर्षातिरेक के जो चित्र कबीर ने अंकित किये हैं वे भी बड़े भावमय और कवित्वपूर्ण हैं :—

पिंजरे प्रेम प्रगासिया अन्तरि भया उजास ।
मुखि कसतूरी महमही वांणी फूटी बास ।।
मन लागा उन मन्न सौं गगन पहुंचा धाइ ।
चन्द बिहूणां चांदिणां अलख निरंजन राइ ।।

तृतीयावस्था आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की है। ये चित्र भी अत्यन्त हृदयस्पर्शी और भावमय हैं ।

(१) ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै यूं हरि मिल्या जुलाहा ।।
(२) अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि ।।
(३) तूं तूं करता तूं भया मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी वलि गयी जित देखूं तित तूं ।।

स्पष्ट है कि गंभीर रहस्यमय अनुभूतियों, हर्षातिरेक, विरह-व्याकुलता एवं शांत-निश्चलता की स्थिति, आतम-समर्पण की उत्कंठा और भक्ति, आन्तरिक प्रेम के क्षण, परमात्मा के साथ मिलाप की साधना, विरहिणी आत्मा की विशेष स्थितियों तथा भावों के बड़े ही हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक चित्र अंकित करने में कबीर को पूर्ण सफलता मिली है ।

कबीर के पास रूपकों और अन्योक्तियों का भंडार भरा पड़ा है । रहस्यमयी अनुभूतियों को स्पष्ट करने के हेतु रूपकों, अन्योक्तियों और

प्रतीकों का प्रयोग सब रहस्यवादी कवियों ने किया है परन्तु कबीर के रूपक और अन्योक्तियाँ अपनी सरसता में अद्वितीय हैं। कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने इन रूपकों और अन्योक्तियों को हिन्दू-मुसलमानों के घरेलू जीवन से चुना है ; उनकी कल्पना का आधार सामान्य मानव-जीवन है जिस कारण वे सर्वसाधारण के लिए बोध-गम्य और हृदय-स्पर्शी हो गई हैं। वर-वधू, गुरु-शिष्य, यात्री, कृषक-गृहस्थ, जुलाहा आदि के सरल रूपक बाँध कर हृदय की अभिलाषाओं, भावातिरेक और रहस्यमय अनुभूतियों को सफलतापूर्वक स्पष्ट कर देने में कबीर का कौशल स्तुत्य है। उपमाओं के लिए दीपावली-उत्सव, मन्दिर के घंटाओं, विवाह, सती, पथिक, षड्ऋतु आदि को चुनकर कबीर ने अपने पदों में विशेष सरसता उँडेल दी है। यही कारण है कि कबीर इस दिशा में असाधारण समझे जाते हैं और इनका काव्य सहृदयों की जिह्वा पर विहार करता रहता है।

भावपक्ष के समान कबीर कलापक्ष में भी किसी से पिछड़े हुए नहीं। यद्यपि उन्होंने अलंकार-विधान का प्रयत्न नहीं किया तो भी जो अलंकार उनकी कविता में आ गये हैं, वे पूर्णरूपेण स्वाभाविक हुए हैं और भाव-स्पष्टता के गुण से सर्वथा भरे हैं। शब्दालंकारों में प्रायः अनुप्रास ही मिलता है। जैसे—

(१) जो पै जुगति न जांनियं भाव भगति भगवान।

(२) संकट सकति सकल सुख खाये।

(३) गगन गुपत मधुकर मधु पीवत। सगति सेस सिघ जांणी॥

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टांत, अन्योक्ति और विरोध अलंकारों की प्रधानता है। कबीर की उपमाएं जैसेकि ऊपर बतलाया गया है, दैनिक जीवन एवं प्रकृति तथा उत्सवादि से लिये जाने के कारण अत्यन्त भावपूर्ण हैं और अपने उद्देश्य को भली भाँति चरितार्थ करने वाली हैं :

(१) फूलनि मैं जैसे रहत बास। यूं घटि घटि गोबिंद है निवास॥

(२) ज्यूं जल बूंद तैसे संसारा॥

(३) हंसी आटा लूंण ज्यूं सोना समां सरीर॥

उनके रूपकों के बारे में विशेष उल्लेख किया ही जा चुका है। छोटे-छोटे निरंग और परंपरित रूपक भी हैं और बड़े-बड़े सांग रूपक भी।

निरंग रूपकः—

(१) तन धन जोबन अंजुरी कौ पाणी। (२) भ्रम-निसा जो गत करै। (३) तुम पिंजरा में सुवरा तेरा (४) कृष्ण कँवल-दल, भँवर कबीरा।

सांग रूपक—आँधी का सांग रूपक देखिए—

संतो भाई आयी ग्यांन की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उडांणी माया रहै न बांधी॥
हित चित की है धूंनि गिरानी मोह बलोड़ा टूटा।
त्रिस्ना छांनि परीधर ऊपरि कुबुधि का भांडा फूटा॥
आंधी पीछैं जौ जल वूठा प्रेम हरी जन मीनां।
कहै कबीर भान के प्रगटैं उदित भया तन खीनां॥

दृष्टांत :—(१) मनिखा जनम दुलभ है देह न बारंबार।
तरवर थें फल झड़ि पड़्या बहुरि न लागै डार॥
(२) संत न छांडै संतई कोटिक मिलैं असंत।
चन्दन भुवंगा बैठिया सीतलता न तजंत॥

विरोधाभास और भावना :—(१) बिना भवंगम डसी दुनियाई॥ (२) बूड़ि मुवौ बिन पांनी। (३) बिन मुख खाई चरन बिन चालै। (४) घर जालौं घर ऊबरै घर राखौं घर जाइ॥

यमक :—कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफ़िर बेपीर॥

अन्योक्तियां कबीर के रहस्यवाद का शृंगार हैं। कबीर अन्योक्तियों के बादशाह कहे गये हैं। ऐसी भावपूर्ण अन्योक्तियां लिखने में कोई दूसरा हिन्दी-कवि समर्थ नहीं हुआ। देखिए, हंस और नलिनी की दो सुन्दर अन्योक्तियां :

(१) हंसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुबिधि केलि कराय॥

सूखे ताल पुरइन जल छोड़े, कमल गयो कुम्हिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरं, बहुरि मिलं कब आय।।

(२) काहे री नलिनी, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
(क. ग्र. पद. ६४. पृ. १०८)
जल में उत्पति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास।।

(३) नलिनी सायर घर किया दव लागी बहुतेणि ।
जल ही मांही जल मुई पूरव जनम-लखेणि ।।

भाषाः—कबीर ने कहा है—"बोली मेरी पूरब की।" उनकी बोली में पूर्वी भाषा के प्रयोगों, अव्ययों और सर्वनामों का बाहुल्य है, यया-संबंध-कारक में कर, केरा, क आदि; क्रियाओं में दिहिन, खाइन, गैले, रंगैले, दीन्हा आदि; अव्ययों में अस, जस, तहँ आदि और सर्वनामों में मोर, तोर आदि। पूर्व भारत के निवासी होने के कारण पूर्वी भाषा का विशेष प्रभाव स्वाभाविक ही था। परन्तु कबीर ने किसी एक शुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं किया। उनकी वाणी में पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण है। कुछ पद तो शुद्ध व्रजभाषा के भी पाये जाते हैं। वास्तव में कबीर भाषा-प्रयोग में भी उतने ही स्वतन्त्र थे जितने अपने विचारों में। इसमें भी वे किसी एक भाषा के बंधन में बँधने के लिए तैयार न थे। जैसे कबीर 'न हिन्दू ना मुसलमान' थे वैसे ही भाषा के संबंध में भी किसी प्रांत की सीमा में अपने को नियंत्रित करना उन्हें अभीष्ट न था। आचार्य हजारीप्रसाद जी 'कबीर' नामक पुस्तक के उपसंहार में कबीर की भाषा के प्रभाव पर जो लिखते हैं, वह यहाँ उल्लेखनीय है—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फ़रमाइश को नाहीं कर सके। और अकह-कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की

तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकनेवाली ही बात है। पर 'बे-हद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्त्तिमान् कर दिया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक, काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य कसने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते। पंडित और काज़ी, अवधूत और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।" इस कथन के पश्चात् उनकी भाषा और काव्य पर और कुछ कहने का साहस ही नहीं हो सकता। कबीर की भाषा चाहे सधुक्कड़ी हो अथवा खिचड़ी ; वह कबीर के भावों को स्पष्ट करने के लिए उनके व्यक्तित्व के सामने पानी भरती है।

कबीर के महत्त्व के बारे में आचार्य द्विवेदी की ये पंक्तियां उद्धृत करके इस प्रकरण को समाप्त कर देना चाहता हूँ—

"हिन्दी-साहित्य के हज़ार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है—तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबको झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।"

खेद यही है कि हिन्दी-साहित्य-मनीषियों में कबीर का अध्ययन

बहुत ही कम हुआ है। जिन्होंने किया है उनमें से बहुत कम लोग ऐसे हुए जिन्होंने उसकी साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा की हो। कबीरदास की सच्ची महिमा को वही समझ सकता है जो उनकी वाणी की गहराई तक पैठने का प्रयत्न करे। ऐसे व्यक्तित्व वाले, ऐसे महिमा-संपन्न युग-निर्माता, मानवतावादी धर्मगुरु और असाधारण भावों तक को एकांत-ग्राह्य एवं सुबोध बना देने की अतुल्य शक्ति से सर्वथा-सम्पन्न महाकवि का स्थान विश्व-साहित्य में भी उतना ही ऊंचा है जितना कि हिन्दी-साहित्य में। असत्य और आडम्बर की ऊँची-से-ऊँची प्राचीरों को अपने सीधे-सादे, सरल और सच्चे शब्दों के अमोघ तीर-समूह से छिन्न-भिन्न कर देने की अतुल शक्ति रखनेवाला तथा दृढ़ सिद्धांतों की स्थिर भूमि पर अकेला ही डटा रह कर पाखंड और मिथ्यावाद की अक्षौहिणी सेनाओं से लोहा लेकर विजय-दुंदुभि का उद्घोष करनेवाला भूखा-नंगा महात्मा अन्य किस साहित्य में दिखाई देता है! वह हमारी श्रद्धा का ही नहीं, प्रेम का पात्र है; साहित्य का ही नहीं, राष्ट्रीयता का ही नहीं, विश्व-भ्रातृत्व का सर्व-प्रथम और सर्वोत्तम धुरंधर नेता और गुरु है। धन्य है उस व्यक्तित्व को और धन्य है उसकी प्रतिभा को।

कबीर की रचनाएँ—

कबीरदास जी के ग्रंथों की संख्या ५८ या ६१ बतलाई जाती है, परन्तु इनमें कबीर साहब का मुख्य ग्रंथ 'कबीर बीजक' ही माना जाता है जिसमें उनकी विभिन्न रचनाएँ संग्रहीत हैं। बीजक को (१) साखी, (२) शब्द और (३) रमैनी नामक भागों में विभक्त किया गया है। वैसे उनका एक 'साखी-संग्रह' भी प्रसिद्ध है जिसे बीजक के पश्चात् महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। चूंकि कबीर स्वयं निरक्षर थे जो भी रचनाएँ उनकी प्राप्त हैं वे उनके शिष्यों द्वारा संग्रहीत की गई थीं। यही कारण है कि उनकी प्रामाणिकता अभी तक संदिग्ध ही है। प्राप्त प्रतियों के आधार पर जितने संग्रह वर्तमान काल में प्रकाशित हुए हैं उन्हें भी पूर्णरूपेण प्रामाणिक

कहना कठिन है। अभी तक जो संग्रह सर्वाधिक प्रामाणिक माना जा सकता है वह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और डा० श्यामसुन्दर-दास द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' ही है यद्यपि उसे भी असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऐसे संग्रह के लिए तो भविष्य में होनेवाली खोजों की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

कबीर का जीवन-काल—

इसे हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि कबीरदास की जन्म-तिथि और निधन-तिथि दोनों ही अभी तक संदिग्ध हैं। जो भी तिथियां अभी तक निर्धारित हुई हैं वे अधिकतर अनुमान पर ही अवलम्बित हैं। कबीरदास अपनी 'वाणी' में इस संबंध में मौन ही रहे हैं। इस संबंध में भिन्न-भिन्न मत इस प्रकार हैं :—

(क) कबीर-पंथ—सं० १२०५ से १५०५ (आयु ३०० वर्ष)

(ख) १. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी सं० १४०० से १५०० के बीच।
२. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सं० १४२७ से सं० १५०५ तक

(ग) १. मिश्रबंधु सं० १४५५ से १५५२ तक
२. चन्द्रबली पांडेय सं० १४५६ से सं० १५५२ तक

(घ) १. डा. रामकुमार वर्मा सं० १४५५ से सं० १५७५ तक
२. डा. श्यामसुन्दरदास सं० १४५६ से सं० १५७६ तक

उक्त मतों में से (क) मत तो केवल श्रद्धालु भक्तों के इस विश्वास पर अवलंबित है कि कबीरदास जी की आयु तीन सौ वर्षों की थी। यह नितांत निराधार, केवल श्रद्धामात्र ही है। (ग) और (घ) भागोंवाले मतों में अनुमान एवं अप्रामाणिक आधारों को वास्तव में महत्ता दी गई है। इन दोनों मतों का प्रतिपादन इन प्रसिद्धियों पर भी किया गया है कि कबीर साहब एक तो सिकन्दर लोदी (१५४५-१५७४) के समय में हुए, दूसरे नानक साहब (१५२६-१५९५) कबीर साहब से मिले थे,

पर इनके लिए कोई दृढ़ प्रमाण उपस्थित नहीं किये गये। यदि ये दोनों प्रसिद्धियाँ सारपूर्ण हैं तो कबीरदास का समय (ग) भागवाले मतों का मान लेना उचित होगा, (घ) भागवाले मत अमान्य-से ही रह जाते हैं। परन्तु कबीर की निश्चित जन्म-मरण-तिथि के निर्धारण का प्रयत्न न करते हुए यह मान लेना कि कबीर का आविर्भाव १५वीं शताब्दी में हुआ, अधिक मान्य समझना उचित होगा। अतः (ख) भागवाले मतों को ही मान्यता देना अधिक उचित प्रतीत होता है जब तक कि भविष्य की खोज उनकी निश्चित जन्म-मरण-तिथि के लिए उपयुक्त एवं विश्वसनीय प्रमाण उपस्थित करने में सफल न हो। फलतः यह मानना ही ठीक है कि उनका जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा और स्वर्गवास उसके अन्तिम चरण में अथवा सं० १५०५ में जैसा कि कबीर-पंथ मानता चला आया है।

मलिक मुहम्मद जायसी

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ईसा की सोलहवीं शताब्दी इसका स्वर्ण-युग था। इस साहित्य की सर्वोत्कृष्ट विभूतियों के आविर्भाव का श्रेय इसी शती को है। इन सौ वर्षों में जिस उच्च कोटि के हिन्दी-साहित्य का निर्माण हुआ उसकी समता का साहित्य अब तक हिन्दी-संसार पुनः उपस्थित न कर सका। इसी शताब्दी के आरम्भ में महाकवि जायसी हिन्दी-साहित्याकाश में स्निग्ध कान्तिमय अरुणोदय के समान उदित हुए, जिसके थोड़े ही समय पीछे वहाँ वे सूर्य और चन्द्र उदय हुए जिनकी आभा से वह आज भी उद्-भासित हो रहा है। जायसी के केवल ३०-३५ वर्ष पश्चात् ही हिन्दी-साहित्या-काश के ज्योतिर्मय मार्तण्ड महात्मा तुलसीदास का उदय हुआ जिसने जायसी द्वारा प्रशस्त भाषा-शैली को अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना और हिन्दी-संसार की सर्वोज्ज्वल निधि—रामचरित-मानस—में समादृत कर जायसी की साधना को सफल बना दिया। इस शताब्दी के हिन्दी-साहित्य के विकास का अध्य-यन करते समय सबसे पहले जिस सहृदय कवि पर दृष्टि पड़ती है वे हैं 'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी।

जायसी का काव्य-कौशल हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। उनका 'पद्मावत' उनका एक अमूल्य रत्न है।

जायसी सूफ़ी-कवि थे और इस वर्ग के कवियों में उनका स्थान अद्वितीय है। हिन्दी में सूफ़ी-सम्प्रदाय के वे सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। जायसी पहले साधक हैं और पीछे कवि। वास्तव में सूफ़ी विचारधारा को मनोरम और आकर्षक रूप में उपस्थित करने के उद्देश्य से ही जायसी ने काव्य-रचना की और इस उद्देश्य में पर्याप्त सीमा तक उन्हें सफलता भी मिली। इस प्रकार जायसी के काव्य के अध्ययन के लिए सूफ़ी-सम्प्रदाय, उसके सिद्धांतों एवं तत्कालीन आन्दोलन का कुछ परिचय आवश्यक है।

सूफ़ीमत और उसके सिद्धान्त—

सूफीमत को फ़ारसी में तसव्वुफ़ कहते हैं। सूफ़ी एक अरबी शब्द है जो 'सूफ़' से बना है जिसका अर्थ 'ऊन' है। सूफ़ी शब्द उन संतों के लिए प्रयुक्त होता था जो ऊन के वस्त्र धारण करते थे और विरक्त जीवन विताते थे। सूफ़ी-मतावलम्बी अपना संबंध इस्लाम-धर्म से जोड़ते हैं, यद्यपि पूर्व और पश्चिम के आधुनिक विद्वानों ने सूफ़ी-भावना के बीजरूप को प्रागैतिहासिक काल से ही सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। वे सूफ़ी-धारा के विकास में नास्तिक और मानी मतों का प्रभाव मानते हैं। कुछ भी हो, इस्लामी सूफ़ी अपने मत का संबंध इस्लाम से ही जोड़ते रहे हैं। उनके कथनानुसार स्वयं मुहम्मद साहब की प्रकृति विरागपूर्ण थी अतएव सूफ़ी थी। कुरान में भी अनेक ऐसे कथन हैं जिनसे सूफ़ियों की विरक्त भावना का समर्थन होता है—"उसके (बंदे के) गले की नाली की अपेक्षा हम (ख़ुदा) उस (बंदे) के अधिक समीप हैं" इत्यादि। आरम्भ में सूफ़ी एक प्रकार के दरवेश या संत थे जो ईश्वर के मार्ग पर अपना जीवन ले चलते थे, ऊन के वस्त्र पहनते थे, सांसारिकता से विरक्त रहते थे, भूख-प्यास सहते थे और जिसे संसारी लोग सवाब (पुण्य) समझते थे, उससे उदासीन हो ईश्वर के प्रेम में लीन रहते थे। इहलौकिक कार्यों से विरक्त हो इस्लाम की धर्म-शिक्षा के पालन में ही रत रहते थे। पहले-पहल अनेक सूफ़ी दरवेश अकेले अथवा मंडलियों में स्थान-स्थान पर घूमते फिरते थे। 'ज़िक्र' अर्थात् ईश्वर की स्तुति, कुरान की आयतों के उच्चारण एवं नामस्मरण पर तथा 'तवक्कुल' अर्थात् अहंभाव को मिटा कर सर्वप्रकारेण अपने-आपको ईश्वरार्पण कर देने की प्रवृत्ति पर बल देते फिरते थे। इस समय तक वे इस्लाम के कर्मकांड एवं रोज़ा-नमाज़ आदि तक ही सीमित थे। धीरे-धीरे इनमें गुह्य भाव प्रवेश करते गये। तीसरी शताब्दी तक सूफ़ीमत ने एक नया ही रूप धारण कर लिया। कुछ काल में ही इस्लाम के बाह्य विधानों पर आश्रित भक्ति-परक साधना के साथ-साथ इनमें मानसिक साधना एवं अद्वैतवाद के सिद्धांतों का प्रचार होने लगा। इस्लाम एकेश्वरवादी तो है पर अद्वैतवाद के सिद्धांत उसे मान्य नहीं। सूफ़ियों

ने अपने इन सिद्धांतों को सदा कुरान-सम्मत ही कहा। इस इस्लाम-विरोधी विचारधारा के कारण इन्हें कट्टर उलेमाओं (मुल्लाओं) के साथ घोर संघर्ष भी करना पड़ा। बाद में सीरिया के सुलेमान-अल-दारानी और मिस्र के जूलनून ने मारिफ़त के सिद्धांत को विकसित किया और बायजीद ने 'फ़ना' का सिद्धांत समाविष्ट कर सूफ़ीमत को अद्वैतवादी स्वरूप दे दिया। 'फ़ना' के सिद्धांत के अनुसार साधक अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया ईश्वर की इच्छा पर छोड़कर अपने अस्तित्व (अहंभाव) को ही मिटा देने की साधना करता है और वासना से निवृत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। फलतः सूफ़ियों के सिद्धांतानुसार कुरान का अल्लाह-अद्वैत पारमार्थिक सत्ता समझा जाने लगा।

ईसा की नवीं शताब्दी के पश्चात् सूफ़ीमत को विशेष लोकप्रियता मिली और वह इस्लाम के भीतर ही विकसित और परिवर्द्धित होने लग गया। इस संबंध में तीन शासकों—फ़राबी (मृ० ९५०) अबूसईद (मृ० १०९३) और इमाम गज्ज़ाली (मृ० ११११)—के नाम विशेषोल्लेख-नीय हैं। फ़राबी ने सूफ़ीमत का कुरान से समन्वय कर उसे दार्शनिकता प्रदान की। सईद ने समाधि (सभा) की व्यवस्था की और अपनी साधना एवं व्यक्तित्व से सूफ़ीमत को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया। परन्तु इस समय भी कट्टरपंथियों ने इस मत को कभी आशीर्वाद न दिया।

शास्त्राचार-परायण मुसलमान इन्हें 'बे-शरा' व शास्त्रबहिर्भूत ही मानते रहे। इतिहास में सूफ़ियों पर किये गय अनेक प्रकार के अत्याचारों की कई कहानियां प्रचलित हैं।

इन मतावलम्बियों को 'जिन्दीक' (नास्तिक) होने का फ़तवा देते रहे। कट्टर इस्लाम-पंथियों ने इस दर्शन-प्रधान मत को दबाने के निरन्तर प्रयत्न किये जिनकी सीमा अत्याचार तक भी पहुंच गई। परन्तु इस कठोर संघर्ष में भी सूफ़ी विचारधारा विकास करती ही गई और इमाम गज्ज़ाली के समय में यह अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। इस इमाम ने इस्लाम और सूफ़ीमत का समन्वय कर 'तसव्वुफ़' को इस्लामी दर्शन

का पद प्रदान किया। उसने मुसलमानों में धर्म, दर्शन, समाज और भक्ति-भावना का समन्वय किया और पारस्परिक भेद-भाव को दूर किया। बाद में जिली, रूमी और अरबी आदि महान् सूफ़ियों और ऊँचे कवियों ने इस संगठन को अग्रसर करने का विशेष कार्य किया। इस प्रकार धीरे-धीरे सूफ़ी विचार की ओर कट्टर इस्लाम-मतानुयायियों में भी सहिष्णुता उत्पन्न होती गई और समझौते के रूप में सूफ़ी दर्शन इस्लामी दर्शन के रूप में अंगीकृत किया गया।

भारत-प्रवेश—

सूफ़ीमत का भारत-प्रवेश सूफ़ी साधुओं के साथ हुआ। सूफ़ीमत से भारत का संबंध तो पहले से ही था, परन्तु सातवीं शताब्दी में उसके अनेक साधक और दरवेश भारत में आकर बस गये थे और इनका आना-जाना आरम्भ हो गया था। ७१३ ई. में ये लोग मुल्तान तक पहुँच गये थे। पंजाब और सिंध इनके केंद्र बन गये थे। सातवीं से दसवीं शताब्दी तक इन दोनों प्रांतों में ये लोग भारत में प्रचलित अनेक संप्रदायों के निकट संपर्क में आते रहे और उनसे विचारों का आदान-प्रदान करते रहे। इन्हीं तीन शताब्दियों में भारतीय ब्रह्मवाद, हीन यान, बौद्ध मत, हठयोग-साधन एवं संतों की भक्तिधारा का इन सूफ़ियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। इससे इस मत में आध्यात्मिकता का विशेष पुष्टिकरण हुआ और अनेक साधनाओं का प्रचलन। इसके पश्चात् धीरे-धीरे ये सूफ़ी-साधक सारे भारत में फैल गये और भारत में भी लोकप्रिय हो गये। सिंध, पंजाब, दिल्ली, मुल्तान और अजमेर इन साधकों के प्रधान क्षेत्र थे। इसके पश्चात् भारत में जब मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हो गया तो सूफ़ी-धर्म का यहाँ विशेष रूप से प्रचार होने लग गया। इन सूफ़ी प्रचारकों की एक विशेषता यह थी कि इनमें सब धर्मों के लिए सहिष्णुता की भावना थी और मुल्लाओं की सी कट्टरता का नितांत अभाव था।

धीरे-धीरे सूफ़ी साधकों ने हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों

का आदर और विश्वास प्राप्त कर लिया। हिन्दुओं में अनेक श्रद्धालु इन सूफ़ियों की ओर आकर्षित हो रहे थे। वास्तव में निकटातिनिकट संपर्क होने के फलस्वरूप दोनों जातियों में यह अनुभव होता जा रहा था कि उनमें तात्त्विक मतभेद बहुत कम है। फलतः वे एक-दूसरे की ओर झुकते जा रहे थे, और भेद-भाव का परिहार होता जा रहा था। इस्लाम-धर्म-प्रचार का जो कार्य तलवारों की तीखी धार और नेज़ों की पैनी नोक से न हो सका वह इन सूफ़ियों के प्रेमपूर्ण एवं सहिष्णु व्यवहार से हुआ। भारत में आकर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से सूफ़ीमत ने कोमलतम और दार्शनिक स्वरूप धारण कर लिया। अपने धर्म-प्रचार के लिए इन सूफ़ियों ने साहित्य को विशेष साधन बनाया। और हिन्दवी नाम की एक मिली-जुली भाषा में साहित्य-रचना कर अपने विचारों को प्रचारित करना आरम्भ किया। बाद में प्रांतीय भाषा—अवधी को भी अपना लिया जिस भाषा में रचा हुआ इनका साहित्य विशेष महत्त्व की वस्तु है। इन सूफ़ी फ़कीरों का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा और ये उत्तर और दक्षिण सारे भारत में फैल गये। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार यह सूफ़ी विचारधारा दो भाषाओं में प्रचारित हुई—(१) व्रज, पंजाबी, दक्खिनी और अन्य प्रांतीय बोलियों के मिश्रण से बनी हुई हिन्दवी जिसे हिन्दी या खड़ीबोली कहा जाता है, और (२) अवधी जिसमें प्रथम प्रकार के सूफ़ी-साहित्य की रचना फुटकर पदों, दोहों और ग़ज़लों आदि में हुई—पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में ऐसी रचनाओं का विशेष प्रचार रहा। पूर्वी प्रदेश में सूफ़ियों ने वहां की प्रांतीय भाषा—अवधी को ही अपनी काव्य-रचना के लिए अपनाया। सूफ़ियों का अवधी-साहित्य विशेष महत्त्व का साहित्य है। यह साहित्य हिन्दी में प्रेम-गाथाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है। जायसी इसी शैली के कवि थे। प्रेम-गाथा-साहित्य में सूफ़ियों ने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर अपने आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इसके द्वारा सूफ़ियों ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की एकता का प्रयत्न किया। शुक्ल जी ने

कबीर आदि संतों के साथ इनकी तुलना करते हुए कहा है कि सूफ़ियों की विचारधारा और साहित्य-रचना विशेष आकर्षक एवं ऐक्योन्मुखी थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उस सन्तवाणी के द्वारा व्यक्त न हुआ, और अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य किया करता है उसकी अभिव्यंजना उस संतवाणी से न हो सकी।

हिन्दी में सूफ़ी-साहित्य—

हिन्दी में सूफ़ी-साहित्य दो भाषाओं में मिलता है—(१) हिन्दवी और (२) अवधी में।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है हिंदवी भाषा पंजाबी, खड़ीबोली और ब्रज के सम्मिश्रण से बनी जिसका अभ्युदय मुसलमानों के भारत में आने पर हुआ। विदेशी मुसलमानों के बहुसंख्या में भारत में बसने पर और उनके कुछ राज्यों के स्थापित हो जाने पर लोगों के दैनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक मेल-जोल के साथ, भिन्न-भिन्न देशी बोलियों और विदेशी भाषाओं के आदान-प्रदान से जिस भाषा का उत्तर भारत में उदय हुआ वह 'हिंदवी' कहलाई। यह भाषा कोई नई भाषा न थी जिसे मुसलमानों ने भारतीयों पर लादा हो बल्कि वहीं की सामान्य बोलियों को मिलाकर विदेशी शब्दों के सम्मिश्रण से जो एक भाषा बनी वही इस नाम से प्रसिद्ध हुई। इस मिश्रित नई भाषा का पहला कवि अमीर खुसरो (१२५३-१३२५) माना जाता है जिसने इस भाषा का प्रयोग मनोविनोदपूर्ण काव्य में ही किया जबकि उसकी सूफ़ी-काव्य-रचनाएँ प्रायः फ़ारसी में ही हैं। परन्तु इस भाषा का और इसके साहित्य का विकास विशेष रूप से चौदहवीं शताब्दी के बाद हुआ। इस भाषा का प्रारम्भिक प्रधान साहित्य आध्यात्मिक साहित्य ही है जिसकी रचना प्रसिद्ध सूफ़ियों ने ही की। इस संपूर्ण सूफ़ी-साहित्य की मूल प्रेरणा धार्मिक है और लक्ष्य—प्रचार या साधना। साहित्यिक दृष्टि से यह साहित्य विशेष

महत्त्व नहीं रखता। इसमें काव्यत्व का नितांत अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता ।

अवधी में सूफ़ी-काव्य—

अवधी का समस्त उपलब्ध सूफ़ी-साहित्य प्रेमाख्यानक कथा-काव्य है। अवधी में सबसे पहला प्रेम-गाथा-काव्य मुल्ला दाऊद का लिखा हुआ 'नूरक और चन्दा' नाम से प्रसिद्ध है जिसकी रचना अलाउद्दीन बादशाह के समय में हुई थी । इसके बाद और भी कई प्रेम-गाथाएँ लिखी गईं परन्तु उनमें से सब प्राप्य नहीं हैं। 'पद्मावत' की प्रस्तावना में जायसी ने 'सपनावती', 'मुग्धावती', 'खंडरावती', 'मृगावती, 'मधुमालती', और 'प्रेमावती' प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया है जो उनके समय से पूर्व ही लिखे गये थे । मुल्ला दाऊद सूफ़ी-परम्परा के सबसे प्राचीन कवि थे। उनके बाद रंजन का नाम लिया जाता है। रंजन एक सूफ़ी-संत थे और फ़ारसी तथा हिंदी भाषाओं के अच्छे पंडित थे। इनकी 'प्रेमपन जीव निरंजन' हिंदी की एक रचना प्रसिद्ध है । जायसी ने अपने पूर्वकालीन हिंदी-प्रेम-काव्यों के उल्लेख में जिस 'प्रेमावती' का नाम लिया है वह संभवतः इसी 'प्रेमपन जीव निरंजन' की ही नायिका हो । मृगावती शेख कुतुबन की रचना है जिसे उसने सन् १५०१ में रचा। इसकी भाषा अवधी है और छन्द दोहा और चौपाई। इसमें प्रेम-मार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण किया गया है जिससे साधक की साधना के स्वरूप का चित्रण होता है । बीच-बीच में रहस्यमय आध्यात्मिक अन्योक्तियाँ भी विद्यमान हैं।

कुतुबन के बाद मंझन की 'मधुमालती' नाम की प्रेम-गाथा मिलती है। इस कवि ने प्रकृति के दृश्यों का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। मृगावती की अपेक्षा इस काव्य की कल्पना विशद एवं वर्णन भी विस्तृत तथा हृदय पर प्रभाव डालने वाला है। अव्यक्त की ओर उसमें मधुर संकेत हैं। इस ग्रंथ में कवि की कोमल कल्पना और स्निग्ध हृदयता का अद्भुत मिश्रण मिलता है। इसके बाद महत्त्वशाली रचनाओं में केवल 'पद्मावत' का

ही नाम आता है, और कवियों में जायसी का ही नाम प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ है। जायसी शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये और उनसे इस परम्परा को विशेष प्रोत्साहन मिला और यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। जायसी के बाद की रचनाएँ भी उसकी रचनाओं की समानता न कर सकीं। इस प्रकार प्रेम-गाथाकारों में जायसी ही सर्वप्रधान कवि माने जाते हैं। इन सूफ़ी-प्रेम-गाथाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१—ये प्रेम-गाथाएँ सब-की-सब फ़ारसी मसनवियों के ढंग पर रची गई हैं। इन गाथाओं में फ़ारसी की मसनवी पद्धति के अनुसार ईश्वर-वंदना, मुहम्मदसाहब की स्तुति और सामयिक बादशाह की प्रशंसा आदि मिलती हैं। जायसी ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

२—इन गाथा-काव्यों के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान हैं। मुसलमानों को हिन्दू-धर्म का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका परिचय उन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है। इन मुसलमान कवियों का हिंदू-धर्म के सिद्धांतों, हिंदुओं के आचार-विचार, रीति-नीति एवं रहन-सहन से विस्तृत एवं गहरा परिचय था जिस कारण वे अपनी रचनाओं में अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण करने में सफल हो सके।

३—इन प्रेम-गाथाओं में अधिकतर हिंदू-घरानों की कहानियाँ हैं। ये कथाएँ ऐसी थीं जो हिन्दुओं में प्रायः लोक-कथाओं के रूप में प्रचलित थीं। इनमें कुछ ऐतिहासिक भी थीं। इन गाथा-काव्यों में कल्पना और इतिहास का सुन्दर मिश्रण है।

४—इन लौकिक प्रेम-कथाओं का उद्देश्य अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना है। इन गाथाओं में अलौकिक प्रेम के रूपक बांधे गये हैं। इनमें प्रेम-अंश का सुचारु चित्रण है। धार्मिक प्रतिबंधों के कारण सूफ़ी कवि सीधे ही अलौकिक प्रेम का चित्रण नहीं कर सकते थे अतएव उन्होंने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ही उस अलौकिक प्रेम को अभिव्यक्त किया। इन गाथाओं का नायक मानव की आत्मा है और नायिका ईश्वर, और प्रेम

मानवात्मा का ईश्वर को प्राप्त करने का साधन। साधक (ईश्वर-प्रेमी) के मार्ग की कठिनाइयों को नायक के मार्ग की कठिनाइयों के रूप में चित्रित किया गया है। सूफ़ी संतों के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन में शैतान बाधक है। इस शैतानरूपी बाधा को गुरु (पीर) के द्वारा दूर किया गया है। गुरु की सहायता से साधक ईश्वर तक पहुँचने के प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन इन प्रेम-गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय है।

५—इन प्रेमाख्यानों में हिंदू और मुसलमान दोनों साहित्य-धाराओं का प्रभाव स्पष्ट है। (१) हिंदू-साहित्य-धारा का प्रभाव उनका महाकाव्य के ढंग पर रचा जाना है जैसे कि पद्मावत से स्पष्ट हो जायगा। उसके ग्रीष्म-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, भोजन-वर्णन, गढ़-वर्णन एवं षड्-ऋतु-वर्णन——सब महाकाव्य-शैली के प्रभाव का परिणाम हैं। इन ग्रंथों का प्रेम-चित्रण भी हिन्दू ढंग का ही है। (२) हिन्दी में मसनवी शैली का प्रचलन मुसलमानी साहित्य-धारा के प्रभाव का परिणाम है। मसनवी द्विपद छन्द होता है, इसी कारण चौपाई का प्रयोग अर्धालिका के रूप में किया गया है। फ़ारसी के मसनवी-काव्यों में जिस प्रकार पांच-सात छंदों के बाद विराम दिया जाता है, उसी प्रकार इनमें कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहा दिया जाता है। फ़ारसी मसनवियों में भी प्रेम-कथाओं द्वारा आध्यात्मिक प्रेम-व्यंजना की जाती है ऐसे ही इन चौपाइयों के छंदों द्वारा किया गया है।

प्रायः सभी प्रेमाख्यानक कवियों ने इन्हीं दोहा-चौपाई छंदों का ही प्रयोग किया है। इन प्रेम-कथाओं में नायक को नायिका की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्नशील दिखाया गया है यह भी फ़ारसी-साहित्य की परिपाटी ही है। इसके विपरीत हिंदू-साहित्य में पुरुष की प्राप्ति के लिए स्त्री को ही प्रयत्नशील दिखाने की पद्धति पाई जाती है। उसमें गोपियों को ही श्रीकृष्ण के प्रेम में लीन, विरह में व्याकुल और प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाया गया है। सूफ़ियों ने, विशेषतया जायसी ने नायक को प्रयत्नशील

दिखा कर जहां फ़ारसी-साहित्य की शैली को अपनाया वहां नायिका की प्राप्ति के पश्चात् नायिका के प्रेमोत्कर्ष का हृदयग्राही चित्रण करते हुए भारतीय पद्धति के प्रति भी आस्था प्रदर्शित की है।

६—इन काव्यों की एक विशेषता यह है कि इनमें किसी विशेष सम्प्रदाय का खंडन-मंडन नहीं किया गया, अपने साम्प्रदायिक भावों का प्रतिपादन भी सरल एवं हृदयस्पर्शी ढंग से किया गया है। यही कारण है कि ये काव्य हिंदुओं को भी समानरूप से आकर्षित करने में सफल हुए और लोकप्रिय हो गये।

७—ये सब प्रेमाख्यानक प्रबंध-शैली में ही रचे गये हैं। ये सभी काव्य वर्णनात्मक हैं। इनमें अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए भी कवियों ने कथा-प्रबंध को निभाने का प्रयत्न किया है।

८—इन काव्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन कवियों की पहुंच मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों तक भी थी। उनके विरह-संबंधी वर्णन तो अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी हैं। भाव-व्यंजना सूफ़ी-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

९—ये सूफ़ी कवि मुसलमान थे परन्तु इनके धार्मिक भावों में कट्टरता का अंश भी दिखाई नहीं देता। प्रत्युत भारतीय धर्मों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वेदान्त, हठयोग और वैष्णव-धर्म के सिद्धांतों एवं साधना-पद्धतियों को उन्होंने पर्याप्त रूप से अपनाया है। इन पर भारतीय दर्शन-शास्त्रों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

१०—इन आख्यान-काव्यों की एक प्रमुख विशेषता रहस्यवाद है। इन काव्यों में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर एवं सरल व्याख्या हुई है। इनमें दार्शनिकता के स्थान पर रागात्मक अनुभूति को प्रश्रय दिया गया है। सूफ़ियों के रहस्यवाद की विशेषता हृदय की मधुर भावनाओं द्वारा उस अनन्त का चित्रण है। सन्त-कवियों की-सी नीरसता इनमें नहीं है। इन कवियों ने संतों के समान जगत् को असत्य एवं उपेक्षणीय ठहरा कर नहीं वरन् प्रेम के साधन द्वारा अव्यक्त सत्ता को व्यक्त रूप में प्रकट किया

है। यही कारण है कि उसमें वह दुर्बोधता नहीं जो संतों के रहस्यवाद में पाई जाती है।

जायसी का जीवन-वृत्त—

जायसी के काव्यों में जीवन-संबंधी अन्तःसाक्ष्य पाया जाता है। उनके तीन काव्यों का प्रकाशन हो चुका है, वे हैं—आखिरी कलाम, अखरावट और पद्मावत। जीवन-वृत्त-संबंधी अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से 'आखिरी कलाम' का विशेष महत्त्व है यद्यपि अन्य काव्यों में भी जायसी ने अपने संबंध में कुछ लिखा है। 'आखिरी कलाम' के आरम्भ में नीचे लिखी दो अर्धालियां हैं—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥
आवत उद्यत चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत् अकुलाना॥

इसी में कुछ आगे चलकर वे कहते हैं—

सूरज सेवक ताकर अहं। आठों पहर फिरत जो रहं।

इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि जायसी का जन्म ९०० हिजरी में हुआ था तथा उनके जन्म के समय कोई भूचाल आया था एवं कुछ दिन बाद सूर्यग्रहण भी हुआ था।

उनके निवास-स्थान के बारे में इसी काव्य में केवल यह उल्लेख है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक गांव आदि उदयानू।
तहं दिवस दस पहुंने आएऊं। भा वैराग बहुत सुख पाएऊं॥

इस उद्धरण से केवल इतना ही प्रकट होता है कि जायस का पूर्व नाम उदयान (या उदयनगर) था और जायसी वहां कुछ दिन के लिए अतिथि के रूप में गये और उन्हें वहां वैराग्य हो गया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जायसी का जन्म भी जायस में ही हुआ था। जायस के बारे में 'पद्मावत' के स्तुति-खंड में केवल इतना-सा उल्लेख है—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहां आइ कवि कीन्ह बखानू॥

इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि जायस में कहीं बाहर से

आया था तथा जायस उन दिनों धर्मस्थान समझा जाता था।

वाह्य साक्ष्य एवं जनश्रुति से जायसी के संवंध में उपरिकथित निष्कर्ष से अधिक और कुछ पुष्टि नहीं होती। कोई जनश्रुति उनके जन्म-स्थान को जायस वताती है, कोई गाजीपुर। मानिकपुर ज़िला प्रतापगढ़ को उनकी ननिहाल कहा जाता है। पिता और भाइयों के वारे में प्रसिद्ध है कि उनके माता-पिता की मृत्यु वचपन में हो गई थी और ये साधु-संतों के साथ रहने लग गये थे। जनश्रुति के अनुसार उनका विवाह भी हुआ था और उनके पुत्र भी हुए थे। अमेठी के राजा की इन पर वड़ी श्रद्धा थी और उस राज्य में वे आदर-सत्कार के साथ वहुत दिन रहे और वहीं पर इनकी मृत्यु भी हुई। जायस में उनका मकान और अमेठी में उनकी कब्र आज भी विद्यमान हैं। ऐसा सुना जाता है कि जायस में उनके वंशज अब भी विद्यमान हैं।

उपर्युक्त उल्लेखों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जायसी का जन्म चाहे जायस में हुआ हो या कहीं अन्यत्र, परन्तु उनका संवंध जायस से अवश्य रहा। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि जायस ही उनका स्थायी निवास-स्थान था। 'जायसी' नाम से उनकी प्रसिद्धि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। डा. रामरत्न भटनागर का कथन इस संबंध में उल्लेखनीय है—"जान पड़ता है, जायस जायसी का जन्म-स्थान नहीं था। वे दस दिन के पाहुने के रूप में चले आये, परन्तु पीछे वैरागी बन गये। 'आखिरी कलाम' की रचना वैरागी वनने के वाद की वात है। संभव है इसके वाद लेखक कहीं अन्यत्र चला गया, कदाचित् कालपी। यहीं वह सूफ़ी-मत में दीक्षित हुआ और उसे अपने मोहन कंठ के द्वारा 'कवि' के नाते प्रसिद्धि भी मिल गई। यह भी संभव है कि 'पद्मावत' की रचना प्रवास में हुई हो और सूफ़ी दृष्टिकोण के कारण शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई हो। जायस को धर्म-स्थान मान कर ही उसे अपना स्थान वना लिया हो।"

अन्तःसाक्ष्य एवं वाह्य साक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने जायसी के जन्म एवं ग्रंथ-रचना की तिथियों को निर्धारित करने के प्रयत्न किये हैं।

यहाँ हम डा. रामरत्न भटनागर के विचारों को इस सम्बन्ध में पर्याप्त समझते हुए उन्हीं का उद्धरण दे देना उचित समझते हैं—"अपनी रचना में जायसी ने बाबर और शेरशाह का नाम लिया है। उन्होंने शेरशाह को दिल्लीपति लिखा है। सूर्यग्रहण और भूकम्प के तिथिवार भी हमें प्राचीन ऐतिहासिक उल्लेखों से मिल जाते हैं। सूर्यग्रहण का समय ९०८ हिजरी (१० दिसम्बर १५०२) है। और भूकम्प का ९११ हिजरी। 'आखिरी कलाम' की रचना का समय कवि ९३६ हिजरी बताता है। इसी रचना में वह नवमी सदी में जन्म की बात कहता है और तीस वर्ष की अवस्था में कविता-रचना की बात। पद्मावत में जायसी ने उसका रचनारम्भ-काल ९४७ हिजरी कहा है। परन्तु इसे कुछ लोग लिपि-भेद से ९२७ भी पढ़ते हैं। इन सब तिथियों में संगत बिठाना कुछ कठिन काम है। डा. कमल कुलश्रेष्ठ का कथन है कि 'आखिरी कलाम' जायसी की अन्तिम रचना है। रचना-काल निर्विवाद रूप से ९३६ हिजरी है। अतः पद्मावत इससे पहले की रचना होनी चाहिए। इससे उनके विचारों में पद्मावत की तिथि ९२७ हिजरी है। परन्तु ९२७ हिजरी में इब्राहीम लोदी का राज्य था, अतः कथारंभ में कवि शाहेवक़्त के रूप में शेरशाह को याद नहीं कर सकता था। इसकी पटरी यों ठीक बिठाई गई कि वास्तव में ग्रंथ-रचना का प्रारम्भ ९२७ ई. में इब्राहीम लोदी के शासन-काल में हुआ और इसका अन्त शेर-शाह के समय में। कवि ने भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए प्रारम्भ-काल दिया और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की प्रशंसा की। ईसाई संवत् के रूप में ९२७ का अर्थ है—१५२० ई.। इब्राहीम लोदी का समय १५१६–२० ई. रहा है। १५२० ई. में ग्रंथ-रचना के समय कवि ने सुल्तान इब्राहीम लोदी का नाम क्यों नहीं लिया, यह चिन्त्य है। कवि की रचनाओं में बाबर (१५२६–१५३०) और शेरशाह (१५४०–१५४५) का नाम दिल्लीपति के रूप में आता है। इससे स्पष्ट है कि जायसी का रचना-काल १५२६ और १५४५ ई. के कहीं बीच में है। बाबर का सम्बन्ध 'आखिरी कलाम' से है। इसका समय जायसी ने ९३६ (१५२९) दिया

है। इस समय बाबर जीवित था अतः शाहेवक़्त के रूप में उसी का नाम दिया गया। ९४७ हिजरी (१५४० ई.) में शेरशाह दिल्ली का सुलतान बन गया था। इस प्रकार दोनों ग्रंथों की तिथियों में कोई विरोध नहीं पड़ता। निश्चय ही १५४० ई. में पद्मावत की रचना आरम्भ हुई, वह कब समाप्त हुई, इसके सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। तीस वर्ष की आयु में जायसी कवि के रूप में प्रसिद्धि पाने लगे थे—'कवि वदी' से यही आशय है। 'नौ' सदी का अर्थ नई सदी लेने पर यह स्पष्ट है कि जायसी का जन्म ९०० हिजरी (१४९३ ई.) में हुआ। ३० वर्ष की अवस्था में वह कवि-रूप में प्रसिद्ध हुए (१५२३)। पानीपत की लड़ाई के तीन वर्ष पश्चात् जब बाबर 'साह छत्रपति राजा' था उन्होंने 'आखिरी कलाम' (१५२९) की रचना की और इसके ग्यारह वर्ष बाद (१५४०) पद्मावत को लिखना प्रारम्भ किया। इस समय जायसी ४५ वर्ष की प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। डा. कमल कुलश्रेष्ठ की गणना के अनुसार जायसी का जन्म ९०६ हिजरी (१४९९ ई.) में हुआ और पद्मावत (१५२० ई.) उनकी २१ वर्ष की आयु की रचना ठहरती है। पद्मावत जैसे प्रौढ़ काव्य की रचना २१ वर्ष का युवक करे यह कुछ असंभव-सी बात है। फिर 'आखिरी कलाम' (१५२९ई.) की भाषा-शैली में प्रौढ़ता के चिह्न भी नहीं मिलते और उसमें इस्लामी भाव भरे पड़े हैं, सूफ़ी-चिन्तन का ज़रा भी आभास नहीं है। स्पष्ट है कि 'आखिरी कलाम' (१५२९ ई.) २९-३० वर्ष के युवा की रचना है। इसमें आदि से अन्त तक इस्लामी कट्टर भावना है। स्वर्ग और नरक के जो चित्र साधारण मुसलमान युवक के मन में नाचते हैं वही उसमें मिलेंगे। भ्रम का कारण ग्रंथ का नाम जान पड़ता है। कदाचित् जायसी ने इसका कोई नाम ही नहीं रक्खा। फ़ारसी में 'आख़िरतनामा' (रोज़े आखिर की कथा) की परम्परा थी। यह उसी को अवधि रूप है। इसी विचार से किसी ने ग्रंथ को 'आखिरी कलाम' कह दिया और आलोचक इस भ्रम में पड़ गये कि यह जायसी की अन्तिम रचना है। कट्टर इस्लाम से सूफ़ीमत की ओर बढ़ना प्रगति के चिह्न है। इसके विपरीत जो है, वह अधः-

पतन है। पद्मावत के रचयिता से हम यह आशा नहीं करते कि वह अंतिम रचना के समय कट्टर इस्लामी विचारधारा का पोषण करे। हो सकता है, 'कथा-आरंभ-बैन' के रूप में पद्मावत की प्रारम्भिक पंक्तियां कवि ने मुख्य काव्य-रचना के बाद की हों। तब १५४० ई. में पद्मावत समाप्त समझा जाना चाहिए। इस प्रकार पद्मावत का रचना-काल १५२९ और १५४० ई. के बीच का समय रहेगा।"

जायसी की रचनाएँ—

कुछ विद्वानों की खोजों के अनुसार जायसी ने इक्कीस ग्रन्थों की रचनाएं कीं, किन्तु उनमें से अनेक रचनाओं के नामों के अतिरिक्त कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम के अतिरिक्त भी कुछ रचनाएं उपलब्ध कही जाती हैं, जैसे बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पास सोरठ और उपजी की हस्तलिखित प्रतियां, डा. स्प्रेंगर के पास 'धनावट' की प्रति। इससे अधिक इन पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं। इन पर जब तक खोज न हो जाय यह निश्चय नहीं हो सकता कि ये किसकी रचनाएं हैं। अतः अब तक की खोजों के आधार पर जायसी के केवल तीन ग्रन्थ ही प्रामाणिक कहे जा सकते हैं जिनका प्रकाशन भी काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने पं. रामचन्द्र शुक्ल के सम्पादकत्व में कर दिया है। ये हैं—'आखिरी कलाम', 'पद्मावत' और 'अखरावट'। डा. भटनागर के उपरिलिखित उद्धरण के अनुसार 'आखिरी कलाम' जायसी की प्रथम प्राप्त कृति है जिसकी रचना सन् १५२९ में हुई। पद्मावत का रचना-काल सन् १५२९ से १५४० तक हो सकता है और अखरावट के रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं तो भी वह पद्मावत के पहले की ही रचना हो सकती है।

(१) आखिरी कलाम

यह जायसी की प्रारम्भिक रचना है। यह सन् १५२९ तक लिखी गई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह ग्रन्थ जायसी की पहली रचना हो सकती

है। 'आखिरी कलाम' के शब्दार्थ के आधार पर ही इसे जायसी की अन्तिम रचना कहना युक्तिसंगत नहीं। न तो काव्य-सौष्ठव और न ही विषयवस्तु की दृष्टि से इसे अन्तिम रचना कहा जा सकता है। काव्य की दृष्टि से यह एक सामान्य रचना है, इसमें प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। इस ग्रंथ की विषय-वस्तु भी उदात्त भावों से युक्त नहीं है। हश्र के दिन क्या होगा, यही इस ग्रन्थ की कथावस्तु है। क़यामत (प्रलय) के पश्चात् रसूलेपाक (मुहम्मद साहब) की सिफ़ारिश पर किस प्रकार खुदा गुनहगारों को क्षमा कर देंगे, यही उसकी कथा का लक्ष्य है। ये भाव एक कट्टर मुहम्मदी के हो सकते हैं, जायसी जैसे पहुंचे हुए फ़कीर एवं पीर के नहीं। इन भावों में सूफ़ियत के दर्शन भी नहीं होते, और न ही 'अखरावट' एवं 'पद्मावत' की उदार-हृदयता के।

फलतः काव्य-दर्शन एवं कथावस्तु सभी दृष्टियों से 'आख़िरी कलाम' कवि की अप्रौढ़ावस्था-रचित रचना हो सकती है। 'आखिरत नामा' लिखने की जो परम्परा उस समय फ़ारसी-कवियों में प्रचलित थी, जायसी ने उसी के अनुसरण में इस ग्रन्थ की रचना की, और जैसा कि डा. रामरत्न भटनागर का विचार है, कवि ने स्वयं इसका कोई नाम नहीं रखा। इस ग्रन्थ का यह नाम किसी ने बाद में दिया होगा।

अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह एक सीधी-सादी रचना है। काव्य की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं हो सकता। इस पुस्तक से जायसी के जीवन-वृत्त पर विशेष प्रकाश पड़ता है। कविता की दृष्टि से उसके कुछ एक स्थल ही अच्छे हैं, जिनमें स्वर्ग का वर्णन विशेष रूप से मधुर बन गया है। इस वर्णन में मधुर भावना भरी पड़ी है।

(२) अखरावट

यह जायसी का एक महत्त्वपूर्ण छोटा-सा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में इसके रचना-काल के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्देश नहीं किया गया, शाहे-वक़्त का भी उल्लेख नहीं। इसे भी कवि ने अवधी भाषा एवं दोहा, चौपाई

और सोरठा छन्दों में ही रचा है। तथाकथित मसनवी शैली का भी पूरा परिपालन नहीं किया गया। 'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' की रचनाओं में जहां चौपाइयों (अर्धालियों) से आरम्भ कर बाद में दोहा और फिर सात अर्धालियों का क्रम रखा गया है तथा स्तुतिखंड इत्यादि से कथा का आरम्भ किया गया है वहाँ 'अखरावट' का आरम्भ दोहा और सोरठा से कर बाद में अर्धालियां दी गई और किसी प्रकार की प्रस्तावना आदि नहीं दी गई है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसका आरम्भ सीधे प्रतिपाद्य विषय से कर दिया गया है।

गगन हुता नहिं मही हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसइ अंधकूप महँ रचा मुहम्मद नूर॥

किसी भी प्रकार का तिथि-निर्देश न होने के कारण इसकी रचना-तिथि के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके ४५वें दोहे की पहली चौपाई इस प्रकार है—"कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भये धियानी॥" डा. भटनागर का विचार है कि कदाचित् इस चौपाई से 'पद्मावत' का निर्देश हो परन्तु साथ ही वे कहते हैं कि "यह भी संभव है कि अन्तिम कुछ दोहे-चौपाइयां बाद को जोड़ दी गई हों और शेष रचना 'पद्मावत' से पूर्व की हो। इस ग्रन्थ में जायसी ने अपनी दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा का जिस विस्तार और विशदता के साथ वर्णन किया है उससे भी यही अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि यह 'पद्मावत' से पहले की रचना है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने अपने मत एवं सिद्धांतों की व्याख्या के लिए की प्रतीत होती है परन्तु फिर भी 'पद्मावत' के विना जायसी के मत एवं आध्यात्मिक विचारों की रूपरेखा सम्पूर्ण नहीं हो सकती। यह मानना पड़ेगा कि कवि की साधना-पद्धति पर हठयोग का पर्याप्त प्रभाव था जोकि 'पद्मावत' से भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु 'अखरावट' में कवि ने उस साधना का विस्तार से वर्णन नहीं किया, केवल कुण्डलिनी-उद्बोधन, 'इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना' और 'चक्रभेदन' का उल्लेख-मात्र किया है। इससे

भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह 'पद्मावत' से पहले की रचना है।

जायसी के मत, दर्शन एवं साधना-सम्बन्धी विचारधारा को भली भांति समझने के लिए 'अखरावट' का अध्ययन आवश्यक है। 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोनों के अध्ययन से ही कवि के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों का पूर्ण परिचय मिल सकता है। अतः 'अखरावट' कवि की महत्त्व-पूर्ण रचना है और 'पद्मावत' के समान 'अखरावट' का भी हिन्दी-साहित्य के धार्मिक क्षेत्र में बहुत ऊंचा स्यान है। डा. भटनागर के शब्दों में "सीधी-सादी भाषा में वेदान्त और तत्त्व-दर्शन को जनग्राह्य बनाने की पहली सफल चेष्टा इन ग्रन्थों (पद्मावत और अखरावट) में मिलेगी। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड की विचार-गरिमा का बहुत कुछ श्रेय इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों को है।" सूफ़ीमत अपने वास्तविक विकास के लिए भारतवर्ष का जिस सीमा तक ऋणी है, उसका पता भी जितना इन दोनों ग्रन्थों से लग सकता है उतना अन्य किसी सूफ़ी-काव्य से नहीं। वास्तव में सूफ़ीमत के सम्यग्बोध के लिए इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है।

'अखरावट' का विषय सृष्टि की रचना, जीव-ब्रह्म-विवेचन, पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता एवं साधना आदि पर विशद रूप से विवेचन करना है। 'अखरावट' से जायसी की साधना के बारे मे विशेष प्रकाश पड़ता है।

अखरावट के आधार पर जायसी का साधना-मार्ग——

सूफ़ी सन्तों की उदारता प्रसिद्ध है—परन्तु जायसी में यह गुण विशेष था। अपने काव्यों में जहां उन्होंने अपने सूफ़ीमत और तत्सम्बन्धी साधनाओं पर आस्था प्रकट की है वहां अन्य धर्मों एवं तत्साधनाओं पर भी अविश्वास प्रकट नहीं किया। वे उन्हें भी सफलता का मार्ग स्वीकार करते हैं और किसी विशेष साधना को ही एकमात्र मार्ग कहने का दुराग्रह नहीं करते। जितने मनुष्य के सांस हैं जितने शरीर में रोम हैं अथवा आकाश में तारागण हैं

उतने ही अगणित साधना-मार्ग संसार में हैं। जिस किसी मार्ग से साधक उसकी खोज करता है वह उसे पा लेता है--

विधना के मारग हैं तेते, सरग-नखत तन-रोवां जेते।
जेइ हेरा तेइ तहँवैं पावा, भा संतोष, समुझि मन गावा ।।

स्पष्ट है कि जायसी ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों को स्वीकार किया है तो भी मुहम्मदी साधना उन्हें विशेष मान्य थी--

सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा ।।
लिखि पुरान विधि पठवा सांचा। भा परवीन, दुवौ जग बांचा ।।
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप, पुन्नि सुनि लागै ।।

इस प्रकार जायसी ने 'मुहम्मदी' मार्ग को श्रेष्ठ और निर्मल बताया है जिसका प्रमाण कुरान है और जिस कुरान की आयत को सुनते ही नारद (शैतान) भाग जाता है तथा पापों से छुटकारा पाता है और पुण्यों की प्राप्ति होती है। आगे के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी के उक्त कथन केवल 'शरीअत' वालों के लिए हैं। 'पाक' (पवित्र) होने के लिए सूफ़ी भी शरीयत के बाह्याचारों में आस्था रखते थे यद्यपि 'प्रिय से विसाल' के लिए यहीं रुक जाना उनकी दृष्टि एवं सिद्धांतों से उपादेय न था। तभी जायसी ने इससे आगे ही 'तरीक़त' आदि सूफ़ी-साधनाओं की ओर शीघ्र लेखनी बढ़ा दी है। इस भवसागर को पार करने के लिए वे सूफ़ी-साधना रूपी नाव पर निर्भय बैठना श्रेयस्कर समझते हैं--

कही तरीकत चिस्ती पीरू। उधिरत असरफ औ जहँगीरू ।।
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार डुबूकी ।।

मारिफ़त में डुबकी लगाने से

ढूंढि उठै लइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती ।।

उसीसे मारिफ़त में जाकर मनुष्य की ज्योति (जीवात्मा) ब्रह्म की ज्योति में लीन हो जाती है। इसमें गुरु सहायक होता है--

जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। करगहि तीर पार लेइ आवा।।
जेहि पावा गुरु मीठ, सो सुख-मारग महँ चलै।
सुख अनँद भी डीठ, मुहमद साथी पोढ़ जेहि।।

सूफ़ियों में गुरु की महिमा बहुत बड़ी है। गुरु ही नैया को पार लगा देता है। जिसका गुरु मीठा और प्रौढ़ (मज़बूत) अर्थात् पहुँचा हुआ हो उसे सुख और आनन्द की प्राप्ति अनिवार्य है। गुरु ही गति देने वाला होता है।

मुहम्मदी साधना द्वारा बहिश्त पहुँचना ही सूफ़ियों का ध्येय न था, ब्रह्म में एक होना ही उनको अभीष्ट था। 'अनहलहक़' की ऊँची सीढ़ी उनका लक्ष्य थी, अतः इस्लामी बाह्याचारों को पर्याप्त न समझ उन्होंने 'कायानिष्ठ' ब्रह्म की प्राप्ति, आनंद-सागर में लीन हो जाना ही लक्ष्य बनाया था। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए सूफ़ियों की अपनी साधना प्रेम और विरह की साधना है जिसे जायसी ने पद्मावत में मूर्तिमान् कर दिया है। जीव और ब्रह्म आदि में एक थे, बाद में इनमें भेद उत्पन्न हो गया, तब अलग होने से पैदा हुआ विरह जीव के लिए असह्य हुआ और वह उसी अभिन्नता-एकता के लिए तड़पने लगा। यह तड़पना ही उसकी विरह-साधना है।

हुआ जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरे।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु।।

यह तरंग है—प्रेम की तरंग। इसे प्रेम-साधना कहा है। जायसी ने इस प्रेम पर पद्मावत में विशेष रूप से लिखा है। यह प्रेम साधारण प्रेम नहीं। प्रेम का खेल तो सिर को हथेली पर रखकर ही खेला जा सकता है। प्रेम के खेल के खिलाड़ी के लिए ज्ञान, शिक्षा आदि की आवश्यकता नहीं, वहाँ तो अपने-आपको खो देना है, अहम् को मिटा देना है—

आपुहि खोइ ओहि जो पावा। सो बीरौ मनु लाइ जमावा।।
जो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत-फल खाई।।
जो सिर सेती खेल, मुहमद खेल सों प्रेम-रस।

कबीर ने भी इस प्रेम को ऐसा ही बतलाया है।

जायसी आगे कहते हैं—

कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नाँहि हंसि न रोज, मुहमद ऐसे ठाँव वह।।

प्रेम का क्षेत्र हँसी-खेल का मैदान नहीं। प्रिय की खोज कठिन है, सरल नहीं। परन्तु जो उसे पा लेता है वही मरजिया अर्थात् प्राणों को संकट में डालकर रत्नादि अमूल्य वस्तुएं प्राप्त करनेवाला होता है। अतः

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ।।

प्रिय की प्राप्ति अपने-आपको खो देने से ही हो सकती है। निज को खो कर उसे खोज लो क्योंकि उसके खो देने में सब-कुछ हाथ से जाता रहेगा, कुछ भी नहीं मिल सकेगा।

परन्तु जैसा कि ऊपर कहा है जायसी ने अन्य साधना-मार्गों को भी मान्य और फल-प्राप्ति का साधन कहा है। बौद्ध सिद्धों से परम्परा में लिये हुए योगियों के शून्यवाद एवं योग-साधनाओं की ओर भी जायसी ने निर्देश किये हैं। सिद्ध की व्याख्या करते हुए जायसी कहते हैं—

इहै जगत कै पुन्नि, वह जप तप सब साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोइ सिद्ध भा।।

इससे आगे उन्होंने शून्य से ही जगत् की उत्पत्ति और उसी में उसके लय का वर्णन किया है। कहना न होगा कि यह शून्यवाद नाथ-योगियों के माध्यम से सन्तों एवं सूफ़ियों को प्राप्त हुआ। वस्तुतः मौलिक रूप में यह बौद्धमत का बीज सिद्धान्त कहा जाता है।

इसी प्रकार अखरावट के ३०वें और ३१वें दोहों तथा तत्सम्बन्धी चौपाइयों में योग-साधना का विवरण दिया है जिसमें उसे सफलता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। ब्रह्म का वास 'पिंड' में है और 'त्रिकुटि', 'चक्रभेदन' इत्यादि योग-साधनाओं द्वारा उसकी प्राप्ति संभव है। इसके अतिरिक्त जायसी उपनिषदों के ब्रह्मवाद से प्रभावित हैं, बल्कि उससे भी आगे बढ़ जाते हैं। ब्रह्म और जीव का भेद 'माया' के कारण न होकर

'शैतान' द्वारा पैदा किया हुआ है। शैतान ही उसे भुलावा देता है और वह अपनी स्थिति को भूल जाता है। जायसी इस भेद को दूर करने के लिए शरीर में ही अखिल ब्रह्मांड की उपस्थिति का रूपक बांध कर 'अद्वैतवाद' को अपने विचारों में प्रश्रय देते हैं--

सुनु चेला, जस सब संसारू। ओहि भाँति तुम कया विचारू॥
जो जिउ कया तौ दुख सौं भोंजा। पाय कै ओट पुन्नि सब छीजा॥

इस रूपक का अन्त इस दोहे से किया है—

ओहि जोति परछाहीं, नवौं खंड उजियार।
सुरज चांद कै जोती, उदित अहै संसार॥

इस प्रकार जायसी इस भासमान् नानारूपात्मक अनेकता को उसी के ही विविध रूपों के रूप में चित्रित करते हैं। उसके अनुसार यह नानारूपात्मक दृश्य जगत् उसी एक 'सत्' की बाह्य अभिव्यक्ति है। यह सब वह स्वयं ही है। यह द्वैत-स्थिति 'अहंकार' के कारण है। 'सोऽहं' की अनुभूति से यह द्वैत-भावना दूर हो सकती है। 'अखरावट' में इसी विचार को इन चौपाइयों में प्रकट किया है--

'हौं हौं' करत सबै मति खोई। जौ तू नाहिं आहि सब कोई॥
आपु गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥
'सोऽहं सोऽहं' बसि जो करई। जो बूझै, सो धीरज परई॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन, मन, जिउ जीवन सब सोई॥
'हौं हौं' कहत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं॥

इस प्रकार कवि ने अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से इस अद्वैत-स्थिति को स्पष्ट किया है, परन्तु यह अद्वैतवाद 'शांकर अद्वैत' न होकर विशिष्टाद्वैत ही है।

जायसी की साधना के सम्बन्ध में डा. भटनागर का यह कथन उल्लेखनीय है--"हम देखते हैं कि जायसी की साधना का आधार औपनिषदिक ब्रह्मवाद है; उन्होंने ब्रह्म को कायानिष्ठ मानकर योग की अनेक साधनाओं

को अपनाया है, और कट्टर इस्लामी मत के बाह्याचारों को स्वीकार करते हुए उपनिषदों के ब्रह्मवाद और योग के 'चक्रभेदन' के आधार पर इन इस्लामी बाह्याचारों की नई व्याख्या की है, जिनसे उनका रूप ही बदल गया है।"

'अखरावट' में जायसी ने अनेक नैतिक कथन भी कहे हैं और मनुष्य को सांसारिकता में न फँस कर ईश्वराराधना की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया है। ये सब कथन पठनीय हैं। नैतिक आचरणों से हृदय की शुद्धता पर बल दिया है और 'प्रेम की पीर' की साधना के लिए मानव को प्रेरणा दी है।

पद्मावत——

'पद्मावत' हिंदी-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। प्रेमाख्यानक परम्परा में तो इसका महत्त्व सर्वोपरि है ही, उस समय तक रचित हिंदी-साहित्य में भी उसका स्थान सर्वोच्च है। हिंदी-साहित्य का यह सर्वप्रथम सफल प्रबन्ध-काव्य है।

पद्मावत के रचना-काल के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि यह सन् १५२० की रचना है। परंतु जैसा कि जायसी के काल-निर्धारण-प्रसंग में पहले कहा गया है यह रचना सन् १५२९ से १५४० के बीच की है। जायसी का 'आखिरी कलाम' और 'अखरावट' इसके पूर्व की रचनाएँ हैं।

'पद्मावत' की गणना हिंदी के प्रेमाख्यान-काव्यों (प्रेम-गाथाओं) में की जाती है जिनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। 'पद्मावत' का उस परम्परा से इतना ही अन्तर है कि इसमें कल्पना और इतिहास दोनों का सम्मिश्रण है। इसकी कथावस्तु उनके समान पूर्णरूपेण काल्पनिक नहीं है। इस दृष्टि से पद्मावत की कथावस्तु को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है——(१) काल्पनिक, जिसे पूर्वार्द्ध कह सकते हैं और जो आरम्भ से लेकर रत्नसेन-सन्तति-खंड (खंड ३७) तक मानी जा सकती है और (२) ऐतिहासिक जिसे उत्तरार्द्ध कहते हैं और जो (३७ से) अन्त तक चलती है। ये दोनों भाग स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् सुन्दर रूप में संगठित हैं।

इसका ऐतिहासिक आधार पद्मिनी रानी के लिए चित्तौड़ गढ़ पर किया गया सन् १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण है जिसका वर्णन 'आईने अकबरी' में भी आया है, जिसमें चित्तौड़ के राजा का नाम रत्नसेन (या रत्नसिंह) ही लिखा गया है। हो सकता है कि जायसी के समय अलाउद्दीन और पद्मिनी की गाथा उसी रूप में प्रसिद्ध हो जिसमें जायसी ने वर्णन किया है। अलाउद्दीन और पद्मिनी की घटना को 'टाड राजस्थान' में भी स्थान दिया गया है। अतः चित्तौड़ की रानी के सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर दिल्लीश्वर अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने तक की कथा ऐतिहासिक है और यह भी इतिहास-मान्य है कि अलाउद्दीन के हाथ पद्मिनी तो नहीं, उसकी क्षार ही लगी थी। इसके अतिरिक्त जायसी की कथा में जो कुछ है, वह कल्पित है। राघव-चेतन, बीसलदेव के देवपाल तथा उसकी दूती सब कल्पित ही मानने होंगे।

परन्तु पूर्वार्द्ध की सारी कथा कल्पना-प्रसूत है। उसमें सिंहल, चित्तौड़ एवं रत्नसेन तथा पद्मिनी इन नामों के अतिरिक्त सब-कुछ अनैतिहासिक है, कल्पित है। इस कल्पित कथा के आधार खोजने के प्रयत्न में विद्वानों ने अनेक संभावनाएँ की हैं, परन्तु कोई ऐसा आधार नहीं मिल सका। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में इस सम्बन्ध में कल्कि-पुराण की एक कथा का सार दिया है जिसकी रूपरेखा पद्मावत के पूर्वार्द्ध से अत्यधिक साम्य रखती है। इस पौराणिक कथा में शिवदत्त नामक एक सुआ कल्कि अवतार के पास जाकर कहता है कि समुद्र के बीच में स्थित सिंहल द्वीप के महाराज वृहद्रथ की एक त्रैलोक्य-सुन्दरी पद्मिनी नाम की पुत्री है। भगवान् शिव के वरदान के फलस्वरूप जो कोई पार्थिव राजा उस कन्या से विवाह करने की इच्छा से उसे देखेगा वह स्त्री-रूप हो जायगा, केवल नारायण ही उसे स्त्री-रूप में ग्रहण कर सकता है। ऐसा अनेक बार हो चुका है और कई पृथ्वीपति कन्या-रूप को प्राप्त कर उसकी सेवा कर रहे हैं। इससे पिता और पुत्री दोनों ही चिंता में रहते हैं। कल्कि ने, जो नारायण का रूप थे, उस शुक के हाथ पद्मिनी के पास संदेश भेजा; जिसे

सुनते ही राजकुमारी ने शुक से कहा कि "ऐ शुक ! मैं तुम्हारी चोंच में उत्तम पद्मराग मणि बँधवाऊँगी, कंठ में सूर्यकान्त मणि पहिनाऊँगी, और तुम्हारे पंखों को और शरीर को कुंकुम से चित्रित कराऊँगी, पूंछ में मणि गूंथूंगी, और पैरों में नूपुर सजाऊँगी। तू जाकर कल्कि को यहाँ ले आ।" शुक के पहुंचने पर कल्कि घोड़े पर चढ़कर सिंहल-द्वीप पहुँचा और एक सरोवर पर ठहर गया। राजकुमारी उसके वहाँ पहुँचने का शुक से संदेश पा प्रसन्न हो सखियों को साथ लेकर सरोवर में स्नान के लिए चल पड़ी। वहाँ पर उसका कल्कि से प्रेमालाप हुआ और सूचना पाकर राजा ने भी उसका स्वागत किया और पद्मिनी उससे ब्याह दी। कुछ दिन सिंहल ठहर कर कल्कि लौट आये और दिग्विजय कर उन्होंने जैनों, बौद्धों और म्लेच्छों को परास्त किया तथा 'रमा' नामा एक अन्य कन्या से भी विवाह किया। कल्कि के वैकुंठवास होने पर दोनों पत्नियाँ सती हो गईं।

'पद्मावत' की कथा भी सार रूप में ऐसी ही है, भेद केवल सिंहल के राजा और कल्कि के नामों का है। यदि बृहद्रथ की जगह गन्धर्वसेन और कल्कि के स्थान पर चित्तौड़ के रत्नसेन कर दिये जावें तो उक्त पौराणिक कथा 'पद्मावत' की कथा का संक्षेप हो जाती है। हठयोगियों में सिंहल और वहाँ की पद्मिनियों की अनेक कथाएँ प्रचलित थीं। योगी की साधना की परीक्षा के लिए सिंहल और कामरूप दो स्थान विशेष रूप से माने जाते थे। योगियों के विश्वासानुसार इन दोनों स्थानों की सुन्दरियां साधकों को सौंदर्य-जाल में फांस कर पथ-भ्रष्ट कर देती थीं। अतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जायसी ने इस कथा के साथ अलाउद्दीन की ऐतिहासिक कथा को (जो उस समय भारत में प्रसिद्ध हो कर लोक-कथा के रूप में प्रचलित हो गई होगी) जोड़कर तथा तत्काल-प्रचलित सन्तों और योगियों की करामातों, शैवमत की प्रभावपूर्ण साधनाओं और वेदान्तियों के सिद्धान्तों आदि को अपनी कल्पना-शक्ति से उस कथा में अनुस्यूत करके नया रूप दे दिया और इस प्रकार एक सुन्दर काव्य हिन्दी-साहित्य की भेंट कर दिया। इस तरह हम जायसी की दोनों प्रकार की

कथाओं के लिए विश्वसनीय आधार तक पहुँच जाते हैं। इस सब से जायसी का महत्त्व कम नहीं हो जाता। जिस कुशलता के साथ उन्होंने इन आधारों का उपयोग किया वह सराहणीय है। फिर जिस अपूर्व प्रेम-तत्त्व को उक्त लोक-कथाओं में पिरोकर अपनी कवित्व-शक्ति से कवि ने सम्पूर्ण कथानक को प्राणमय बना दिया है वह हिंदी-साहित्य में एक अनोखी बात थी। वास्तव में ऐसा करके जायसी ने तुलसी के लिए 'रामचरितमानस' की रचना का मानों मार्ग बना दिया। यदि जायसी में तुलसी की सी अनन्त शक्ति-सम्पन्न प्रतिभा होती तो जायसी की यह रचना ही हिंदी-संसार के गले का हार हो सकती थी। इससे जायसी की सार-ग्राहिणी प्रतिभा और उनकी रचना-शक्ति पर प्रकाश पड़ता है। जायसी का स्थान महत्त्वपूर्ण है और सूर और तुलसी को छोड़ शेष हिंदी-साहित्य में उनका 'पद्मावत' अपनी कोटि का अनन्य काव्य है। इस काव्य की तीन मुख्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) जायसी ने इस काव्य में कल्पना और इतिहास का ऐसा अनूठा मिश्रण किया है कि उसकी प्रबन्ध-कुशलता पर आश्चर्य होता है, (२) उतनी ही कुशलता के साथ कवि ने इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है। (३) इस काव्य में जायसी ने जो कुछ उपस्थित किया है, वह उनका अपना है, मौलिक है, और शास्त्र-ज्ञान के माध्यम का फल न होकर उनकी स्वानुभूति का फल है।

यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध कल्पित वस्तु है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर रचा गया है। इन दोनों कथाओं को जोड़ने के लिए कवि ने राघवचेतन के प्रसंग की मौलिक रचना की है। राघवचेतन का निर्वासन और उसे सन्तुष्ट करने के लिए पद्मावती का उसे अपना रत्न-जटित कंकण प्रदान करना, राघव के दिल्ली जाकर बादशाह को पद्मावती के सौंदर्य की प्रशंसा कर चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करना ऐतिहासिक कथा से पूर्वार्द्ध के सम्बन्ध-संयोग के मूल कारण हैं। इससे अधिक और कहीं राघवचेतन का नाम भी कथा में नहीं आता। इसी प्रकार पूर्व कथा में रतनसेन और पद्मावती के विवाह के उपरान्त सूए

की भी कोई चर्चा नहीं होती। ऐसे ही तूफ़ानवाली घटना का भी कोई विशेष प्रयोजन दिखाई नहीं देता, परन्तु इस प्रसंग का प्रयोजन उस समय प्रकट होता है जब अलाउद्दीन संधि के लिए रत्नसेन को उन पांच रत्नों को देने की शर्त करता है। यही पांच रत्न बादशाह के चित्तौड़गढ़ में प्रवेश करने और तदनन्तर राजा के वन्दी बनाये जाने के कारण बनते हैं। इसी प्रकार देवपाल और उसकी दूती का प्रसंग भी निरर्थक नहीं है। दूती के कार्य की विफलता पद्मावती के सतीत्व-गौरव का प्रमाण है और देवपाल के इस घृणित कार्य का परिणाम राजा की मृत्यु का हेतु और पद्मावती के सती होने का कारण वनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी मुख्य कथा को गति देने के लिए किस प्रकार लौकिक प्रसंगों की रचना करते हैं और किस कुशलता के साथ उनका संबंध मुख्य कथा से जोड़ते हैं। ये सभी कथाएँ मुख्य उद्देश्य की ओर कथा को वढ़ाने और संबंध-सूत्र को न टूटने देने में सहायक बनाई गई हैं। इसी में प्रबंध-रचयिता का कौशल देखा जाता है। प्रबंध-काव्यों में प्रासंगिक कथाओं का प्रयोजन यह होता है कि वे प्रधान कथा (आधिकारिक कथा) को मुख्य कार्य की ओर प्रवहमान करें तथा उससे विच्छिन्न न हों। जायसी की प्रासंगिक कथाएँ इन प्रयोजनों का अच्छी तरह से सम्पादन करती हैं। 'पद्मावत' की कथा का मुख्य 'कार्य' पद्मावती का सती हो जाना है। उक्त सभी प्रासंगिक कथाएँ इस कार्य के सम्पादन का साधन वनती दिखाई पड़ती हैं। अरस्तू के कार्यान्विति (Unity of Action) के सिद्धांत का प्रतिपादन भी इन कथाओं में भली भांति हो जाता है। अतः संबंध-निर्वाह की दृष्टि से जायसी की कुशलता आश्चर्यजनक थी। कथा के बीच-बीच में कवि ने अनेक प्रकरणों को भी स्थान दिया है जो वास्तव में कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा डालते हैं। परन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, कवि का उद्देश्य केवल कथा कहना ही न था, कवि का उद्देश्य लौकिक प्रेम के रूप में अलौकिक प्रेम की व्यंजना करना भी था। उक्त प्रकरणों को देने का प्रयोजन वांछित आध्यात्मिक पक्ष की

पुष्टि करना है। परन्तु ऐसे प्रकरण कथावस्तु से नितांत असंवद्ध भी नहीं हैं। उनका प्रयोजन अधिकांशतः कथावस्तु के संबंध के साथ-साथ अध्यात्म-पक्ष को भी स्पष्ट करते जाना है। ऐसे प्रकरणों का बड़ा बड़ा आकार अवश्यमेव अवरोध का कारण बन गया है।

'पद्मावत' के अन्त में कवि ने अपनी संपूर्ण रचना पर आध्यात्मिक आरोपण कर उसे अन्योक्ति कह दिया है जिसके अनुसार यह शरीर ही चित्तौड़गढ़ है, मन—रत्नसेन, नागमती—दुनिया-धंधा, हृदय—सिंहलद्वीप, प्रज्ञा—पद्मावती, माया—अलाउद्दीन, शैतान—राघवचेतन और गुरु—सूआ है। इस प्रकार संपूर्ण काव्य में समासोक्ति तथा अन्योक्ति की रमणीक धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं जिनमें पाठक का मन अवगाहित हो उठता है। कथा के पूर्वार्द्ध में तो जायसी की यह अन्योक्ति पूर्णतया सफल बन पड़ी है। परन्तु उत्तार्द्ध में उतनी सफलता नहीं मिल सकी। डा. रामरत्न भटनागर ने पूर्वार्द्ध को सूफ़ी-साधना की भाषा में इस प्रकार उपस्थित किया—'सालिक' (साधक) के मार्ग में दो वाधाएँ हैं अक़्ल (मन) और नफ़्स (नागमती)। वह नफ़्स (नागमती) द्वारा अपने तन (चित्तौड़) में ही लीन रहता है। परन्तु यदि उसे मुरशिदे-कामिल (गुरु-सूआ) मिल जाता है तो वह नफ़्स से छुटकारा पा जाता है और कल्ब या रूह में स्थित 'मुआरिफ़' (सहज बुद्धि, प्रज्ञा—पद्मावती) की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। नागमती भी सुन्दर और मोहक है और पद्मावती (मुआरिफ़) भी सुन्दर है, अतः जायसी ने दोनों को सुन्दर चित्रित किया है। नफ़्स मुरशिद में विश्वास नहीं करती, इसी से नागमती सूए को मार डालना चाहती है। परन्तु एक वार 'मुआरिफ़' का सौंदर्य साधक ने जान लिया तो वह मुड़ नहीं सकता। वह लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करेगा। कथा में यदि नागमती की अवतारणा न होती तो नफ़्स की मोहकता और उसके बंधन का चित्रण भी नहीं हो पाता।

पद्मावती की प्राप्ति के वाद नागमती के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहने का अर्थ केवल यही है कि मुआरिफ़ के उदय होने पर सालिक नफ़्स-

परस्ती से हट जाता है। नफ़्स नागमती से भागने की उसे आवश्यकता नहीं होती। क्रमशः कमलसेन और नागसेन (पद्मावती और नागमती के पुत्रों) का जन्म केवल कथा को सुखद बनाने के लिए है। इससे अधिक कोई रहस्य इसमें नहीं है।"

लेखक यदि कथा को यहीं समाप्त कर देता तो रूपक सफल हो जाता, परन्तु कथा के ऐतिहासिक अंश को जायसी सफलतापूर्वक रूपक में न ढाल सके। यहां कवि ने राघवचेतन को शैतान और अलाउद्दीन को 'माया' के प्रतीक कहा है, राघव को शैतान का प्रतीक कहना तो कुछ निभाया जा सकता है क्योंकि साधक की नफ़्स-शुद्धि और प्रज्ञा (मुआरिफ़) से उसके संयोग में शैतान बाधक हो सकता है, ईश्वर की ओर जीव की प्रगति शैतान को पसन्द नहीं हो सकती, अतः जीव और ईश्वर में बाधक होने के उसके प्रयत्न सार्थक समझे जा सकते हैं परन्तु उसका माया की शरण में जाना सूफ़ी मतानुसार अर्थहीन हो जाता है क्योंकि सूफ़ी 'माया' को मानते ही नहीं। 'माया' भारतीय चिन्तन की वस्तु है, उसे कवि ने केवल यहीं क्यों अपनाया, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। यह हो सकता है कि जायसी ने पहले सारी कथा लिख ली हो और पीछे उसन उस पर सूफ़ी-साधना का आरोपण किया हो, परन्तु वे रूपक को अन्त तक न निभा सके। अतः उत्तरार्द्ध की कथा को केवल कथामात्र ही समझना ठीक है, वह पूर्वार्द्ध के समान न समासोक्ति है और न ही अन्योक्ति।

साधना के संबंध में यह भी दर्शनीय है कि यद्यपि जायसी सूफ़ी-प्रेम-साधना को ही विशेष ग्राह्य मानते थे तथापि उन्होंने हठयोगियों की साधना का भी सांगोपांग वर्णन किया है, जैसा कि गढ़-छेका खंड में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त जायसी ने हठयोग के अनेक पारिभाषिक शब्दों का खुला प्रयोग किया है, 'काया-नगरी' की बात तो बार-बार कही है। जायसी योगियों की साधना के अनेक भेदों से भी परिचित थे, जैसे धातु कमाना, रसायन-सिद्धि, हरतार, मेखला, सिंधी, चक्र, आधारी, उदपान,

पाँवरी, खप्पर इत्यादि (इसके लिए जोगीखंड देखिए)। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जायसी इस साधना की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, परन्तु इसमें उनकी आस्था अवश्य थी। जायसी ने 'पद्मावत' में सूफ़ियों की प्रेम-साधना की ही प्रतिष्ठा की है और उसे ही ब्रह्म-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। योगी वेषधारी रत्नसेन के मुंह से भी उन्होंने प्रेम-साधना को ही प्रियतम-प्राप्ति का एकमात्र साधन घोषित करवाया है और योग-साधना की अवहेलना कराई है, यथा—'का पूछहु तुम धातु निछोही। जोगरु कीन अन्तर पट ओही।' इत्यादि। यह उस समय के योग और सन्त-साधना के बढ़ते हुए प्रचार का प्रभाव है। यह भी सत्य है कि जायसी कबीर से विशेषतः प्रभावित हुए थे और इन योगियों एवं सन्तों के प्रति जायसी आदर-भाव रखते थे। जायसी प्रधानतया सूफ़ी थे परन्तु हठयोग की ओर उनके सम्मान से ऐसा प्रतीत होता है कि सूफ़ी-साधना और हठयोग-साधना दोनों ही जायसी को आदृत थीं। परन्तु 'पद्मावत' निस्संदेह एक प्रेम-काव्य है जिसमें सूफ़ी-प्रथा के अनुपालन में अध्यात्म-पक्ष का आरोपण कर दिया गया है। जायसी ने जिस प्रेम का इस काव्य में चित्रण किया है वह उस पद्धति का है जो गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से उत्पन्न होता है, और जिसमें नायक या नायिका को प्रिय-प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान् दिखाया जाता है। सूफ़ी प्रथानुसार जायसी ने नायक को ही नायिका की संयोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है, परन्तु ऐसा करते हुए भी जायसी ने फ़ारसी काव्यों के प्रेम-चित्रण का अन्धानुपालन नहीं किया, यही शेष सूफ़ी कवियों से जायसी की विशेषता है। जायसी के प्रेम में ऐन्द्रियता अथवा शारीरिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष की ही प्रधानता है। उसमें कामुकता की अपेक्षा मानसिकता की ओर अधिक रुझान है, मन के उल्लास व तड़पन का ही अधिक चित्रण है। इसके अतिरिक्त जायसी ने नायक और नायिका दोनों में प्रेम का वेग चित्रित किया है, यद्यपि आरम्भ नायक से ही किया गया है। सूए से रत्नसेन के प्रेम का वर्णन सुन पद्मावती भी विरहाग्नि से जलने लगती है, बल्कि रत्नसेन को सूली-दंड दिये जाने की

सूचना पाकर स्वयं मरने के लिए उद्यत हो जाती है। इस प्रकार कवि ने फ़ारसी और भारतीय दोनों पद्धतियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। यह समन्वय-भावना कवि में अन्यत्र भी दिखाई पड़ती है। जायसी ने यद्यपि फ़ारसी-पद्धति को अपना कर प्रेम-चित्रण किया है तदपि उसका प्रेम उतना ऐकान्तिक एवं लोकपक्ष-शून्य नहीं है। उसमें कवि ने बड़ी कुशलता से बीच-बीच में लोक-पक्ष की व्यंजना कर दी है और व्यावहारिकता का पुट दे दिया है जो हृदय पर एक विशेष प्रभाव छोड़ जाता है। राजा के गृह त्याग कर योगी होने पर उसकी माता और पत्नी का करुण क्रंदन, सिंहल से विदा होते समय अपनी सखियों और सगे-संबंधियों से बिलग होने पर पद्मावती की हृदय-व्यथा की अभिव्यक्ति इसी लोक-सापेक्ष प्रेमानुभूति के उदाहरण हैं। पद्मावती और नागमती के पारस्परिक झगड़े भारतीय गृहस्थ की सौतों के व्यावहारिक जीवन का ही चित्रण हैं। इस प्रकार जायसी ने फ़ारसी-काव्यों की भावात्मक शैली के साथ-साथ भारतीय काव्यों की व्यावहारिक शैली को भी यथास्थान अपनाने का प्रयत्न किया है। ऐकान्तिक प्रेम के साथ-साथ जीवन की अनेक दशाओं का सन्निवेश भी 'पद्मावत' में किया गया है।

जायसी का शृंगार-चित्रण—प्रेम-काव्य होने के कारण 'पद्मावत' शृंगार-प्रधान काव्य है। उसमें शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का चित्रण है। दोनों में ही कवि ने उत्कृष्ट काव्य-कुशलता का प्रदर्शन किया है। जायसी एक साधक थे, जिस कारण उनका प्रेम-चित्रण साधक के प्रेम-चित्रण का प्रतीक है जिसमें संयोग की अपेक्षा वियोग की ही प्रधानता का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि जायसी का संयोग-चित्रण उतना उत्कृष्ट न हो सका जितना वियोग-चित्रण। जायसी के संयोग में लौकिक हर्षोल्लास की वह मनोहरता दिखाई नहीं देती। उनका संयोग प्रायः आध्यात्मिकता के रंग में ही रँगा हुआ है। जहां कहीं उन्होंने संयोग-भावनाओं को स्थूल रूप देने का प्रयत्न किया उसमें अश्लीलता-सी आ गई है। जहां कहीं शृंगार-चित्रण में अश्लीलता का भान होने लगता है वहीं कवि उस

प्रसंग को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देते हैं, जिससे पाठक का मन सांसारिकता से हटकर पारलौकिकता की ओर प्रवृत्त हो जाता है। स्थूल को व्यापक रूप देकर कवि ऐन्द्रिय-चित्रण से पीछा छुड़ा लेता है। ऐसे अध्यात्मोन्मुख चित्रणों से पद्मावत भरा पड़ा है। नख-शिख-वर्णन में नेत्रों और बिन्नियों पर कवि की कल्पना इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी।
रोम रोम मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेधि अस-गाढ़े।
वरुनि-चाप ओपहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखहि तन सब पाँख॥

नायिका के नेत्रों की यह विराट् कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी हृदय पर एक विशेष भावना अंकित कर देती है। जायसी का प्रिय सर्व-व्यापक है, वैसे ही उसके पात्रों का भी। पद्मावती के प्रिय का रूप उसी के शब्दों में सुनिए :—

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओहि देखहुँ ठाँवहि ठाऊँ।
जो जिउ में तो उहै पियारा। तव मनसौं नहि होइ किनारा।
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहँ नाहि कोउ आना॥

यह प्रेम की पराकाष्ठा है। सारा संसार ही प्रियमय हो रहा है। उसके सिवा कोई अन्य दिखाई देता ही नहीं। पद्मावती की संयोग-शय्या की कोमलता का चित्रण देखिए—

अति सुकुवाँर सेज सो दासी छुवै न पावै कोई।
देखत नवै खिनहि खिन पांव धरत कस होई॥

इस प्रकार के संयोग-चित्रणों से अलौकिक प्रेम-भाव की तीव्रता का चित्रण कवि की विशेषता है।

विप्रलम्भ-शृंगार जायसी की अनुपम विशेषता है। नागमती का

विरह-खंड और संदेश-खंड हिंदी-साहित्य की अद्वितीय वस्तु हैं, उच्च कोटि का विरह-चित्रण समस्त हिंदी-साहित्य में इसी एकमात्र काव्य में है। यह दोनों ही जायसी को अमर बनाये रखने के लिए पर्याप्त थे। 'विरह-वर्णन' जायसी की कीर्त्ति का अत्युच्च स्तम्भ है। नागमती और पद्मावती के विरह-चित्रण कवि ने पन्द्रह खंडों में किये हैं। नागमती का वियोग-वर्णन भले ही ऊहापोह हो, भले ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर पूरा न उतरे, परन्तु उसमें ऐसी-ऐसी उक्तियां हैं जो 'नावक के तीर' की तरह मन में चुभ जाती हैं। एक-एक दोहा विरह का अगाध सागर है।

नागमती को सुख कहां? उसके पांव चलते नहीं, और पंख हैं नहीं। फिर दूरस्थ पति को कैसे पावे!

जिन घर कंता ते सुखी, तिन गारौ औ' गर्व।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व॥
परवत समुद अगम विच, बीहड़ घन बन ढांख।
किमिकै भेरौं कंत तुम्ह, ना मोहि पांव न पांख॥

बारहमासे का विरह-चित्रण तो जायसी के काव्य-कौशल का जीता-जागता प्रतीक है। विरह की दशाओं का अनूठा चित्रण एक-एक मास के वर्णन में विद्यमान है।* विरह से नागमती स्वयं ज्वाला-स्वरूप हो रही है। फिर पक्षी बिचारा उसके समीप आते ही भस्मसात् हो जाता है, संदेश कैसे ले जाय—

जेहि पंछि कै नियर होइ कहै विरह कै बात।
सोई पंछी जाइ जरि, तरिवर होइ निखात॥

अन्त में नागमती एक दूरस्थ पंछी को संदेश देती है। कौन पाषाण-हृदय होगा जो तत्संदेश-स्थित नारी के उत्सर्ग, गर्व-हीनता और विनय-भावना

---

* यह बारहमासा अपनी अद्भुत वर्णन-शैली, निष्कपट विरह-निवेदन तथा हिन्दू-गृहस्थ के करुण एवं मार्मिक चित्रों के लिए हिन्दी-साहित्य में अनुपमेय है।

से द्रवित न हो उठेगा। नागमती सौत के पावों पर सदा माथा नवायेगी, यदि वह उसके पति को उसके पास ला देवे।

पद्मावती सौं कहेउ बिहंगम। कंत लोभाई रही करि संगम।
तू घर-घरनि भई पिउ-हरता। मो कहं दीहेसि जप औ' बरता।
हमहूँ बिअहि सँग आहि पीऊ। आयहु पाइ जनु पर जीऊ।
अबहु मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा।
मोंहि भोग सों काज न वारी, सौंह दीठी कै चाहनहारी।
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पांय मोर माथ॥

नागमती सौंत को यह आश्वासन देती है कि वह भोग नहीं चाहती, वह तो केवल प्रिय को सामने देखना चाहती है। 'सौंह दीठी कै चाहनहारी'। कितनी अतीन्द्रियता है!! वास्तव में शृंगार के दोनों पक्षों की दृष्टि से 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट काव्य है।

प्रकृति-चित्रण——प्रकृति-चित्रण दो प्रकार का होता है: अन्तः-प्रकृति-चित्रण और बाह्य प्रकृति-चित्रण। जायसी का 'पद्मावत' एक वर्णन-प्रधान प्रबंध-काव्य है, अतः उसमें प्रकृति के दोनों प्रकारों का चित्रण अपेक्षित है। परन्तु अन्तःप्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'पद्मावत' में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। मनुष्य-प्रकृति के सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रमाण 'पद्मावत' में नहीं मिलता। स्वभाव-चित्रण की प्रवृत्ति जायसी में उस मात्रा में नहीं पाई जाती जो एक प्रबंध-रचयिता में होनी चाहिए। पात्रों के चरित्र का सर्वांगीण विकास जायसी के 'पद्मावत' में नहीं दीख पड़ता अतः उसमें पात्रों के चरित्र-निर्वाह का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके पात्र किसी-न-किसी आदर्श को पकड़ कर जीवन-क्षेत्र में उतरे हैं परन्तु उस आदर्श का ऐकांतिक रूप ही उनके सामने रहा, उनकी दृष्टि उस आदर्श को प्राप्त करने में ही केंद्रीभूत रही, अन्य जीवन-संबंधी भावनाओं का उद्रेक उनमें नहीं हो पाया। जैसे आदर्श प्रेम ही रत्नसेन का एकमात्र लक्ष्य है और उस प्रेम-साधना में जो साहस, कष्ट-सहिष्णुता,

त्याग, कोमलता आदि गुण अथवा दुराग्रह, हठ और अधीरता आदि कमियाँ उसमें दिखाई पड़ती हैं, उन सबका उद्भव प्रेम से ही होता है, स्वाभाविक गुणों या दोषों के रूप में उनका विकास होता दिखाई नहीं पड़ता। यदि प्रेम-मार्ग के अतिरिक्त जीवन के अन्य व्यापारों में भी वे गुण-दोष दिखाई पड़ते तो वे रत्नसेन के व्यक्तिगत स्वभाव में माने जा सकते थे। इसी प्रकार 'पद्मावत' के सभी चरितों में आदर्शमूलक गुणावगुण पाये जाते हैं, स्वभावमूलक अथवा व्यवहारमूलक नहीं। चरित्र-चित्रण का वह मनोवैज्ञानिक तथा बहु-अंगी स्वरूप जो तुलसी के 'रामचरितमानस' में पाया जाता है, जायसी किसी चरित्र में दृष्टिगत नहीं होता। हाँ, कहीं-कहीं उसकी झलक-मात्र मिल जाती है। चरित्र के आदर्शभूत एकांकी स्वरूप की प्रतिष्ठा जायसी की विशेषता है।

बाह्य प्रकृति-चित्रण—जायसी सूफ़ी महात्मा थे जो प्रकृति के नाना रूपों में उसी ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखते हैं। वे संसार के अणु-अणु में अपने प्रिय की सत्ता का अनुभव करते हैं। "पक्षियों के कूजन में, झरनों के झरझर में और सरिताओं की कलकल-ध्वनि म उन्हें (जायसी को) प्रभु की मोहक मूर्त्ति का ही गुणगान सुनाई पड़ता था। सघन वनों में, नगे खड़े हुए वृहदाकार वृक्षों में और सीप तथा कौड़ी में उन्हें प्रभु के वियोग से उत्पन्न तीव्र व्यथा का ही प्रभाव परिलक्षित होता है।" जायसी का प्रकृति-प्रेम विशुद्ध प्रकृति-प्रेम न होकर ईश्वर तक पहुँचने का साधन है।

जायसी ने भिन्न प्रकार से प्रकृति-चित्रण किया है। सुविधा के लिए हम उसे पांच रूपों में बांट कर उस पर विचार करेंगे।

(१) परिगणन-शैली—इस शैली में जायसी ने केवल वस्तुओं के नामों ही की गणना कर दी है। इस प्रकार का चित्रण कवि ने अनेक स्थानों पर किया है। सिंहल-द्वीप-वर्णन-खंड में इस शैली के कई उदाहरण मिल सकते हैं। कवि ने घोड़ों, वृक्षों, फल-फूलों आदि की सूची-मात्र उपस्थित कर दी है, मानों कवि वस्तुओं के नामों का कोष उपस्थित कर रहा हो।

इस शैली का साहित्य में क्या स्थान हो सकता है ? ऐसे वर्णन जायसी के काव्य की सबसे बड़ी दुर्बलता हैं।

(२) अतिशयोक्तिपूर्ण शैली—इस शैली में जायसी की चमत्कार-पूर्ण कल्पना-शक्ति का परिचय मिल जाता है। इस शैली के चित्रणों में कवि ने कोई नई-नई उद्भावनाएँ भी की हैं जो उसकी कल्पना-शक्ति के रचनात्मक स्वरूप की परिचायक हैं। सातों समुद्रों का चमत्कारपूर्ण कल्पना-प्रसूत वर्णन जायसी की इस कल्पना-शक्ति का प्रमाण है। ये वर्णन कवि की अपनी विशिष्टता हैं। इस शैली में कवि ने अनेक स्थानों पर प्रकृति के सजीव चित्र भी उपस्थित किये हैं जिनमें पाठक का मन विमुग्ध हो उठता है। कवि ने साधारण वस्तु को भी अपनी चित्रण-शक्ति से असा-धारण रूप देने में कई जगह अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। मान-सरोवर में स्नानार्थ उतरती हुई पद्मावती को देख सरोवर किस प्रकार हर्षोल्लास से भर जाता है और पद्मावती की किस प्रकार असाधारण कल्पना करता है—

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पाँव छुवँ मकु पावौं एहि मिस लहरहिं लेइ॥

इस शैली का विशद रूप षड्ऋतु-वर्णन में प्रचुर मात्रा में किया गया है। जैसे पहले कहा जा चुका है, जायसी का षड्ऋतु-वर्णन और बारहमासा-वर्णन हिंदी-साहित्य का अद्वितीय प्रकृति-चित्रण है, इनमें कवि ने प्रकृति को सजीव और प्राणमय रूप में चित्रित कर दिया है।

(३) उपमान-शैली—इस शैली में कवि ने नखशिख-वर्णन, स्वभाव-वर्णन एवं मानवी भावनाओं के वर्णन में प्रकृति के अनेक व्यापारों का प्रयोग किया है। इस शैली का प्रकृति-वर्णन जायसी में अत्यधिक पाया जाता है। यह जायसी की प्रमुख विशेषता है और इसमें वे सब कवियों से बाज़ी ले गये हैं। इसके उदाहरण काव्य में आदि से अन्त तक भरे पड़े हैं। जहाँ पन्ना खोलिये वहीं इसके अनूठे उदाहरण मिल जाते हैं।

(४) प्रतीक-शैली—यह शैली सूफ़ी कवियों की विशेष शैली है।

जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के स्थान में काव्य में सूरज-चांद, कँवल-भँवरा आदि प्रतीकों का बार-बार प्रयोग किया है। जायसी ने इन दोनों के नाम का तो बहुत ही कम प्रयोग किया है, अधिकतर प्रतीकों से ही काम चलाया है। जहाँ कहीं कवि ने अभिधार्य से हट कर एकदम आध्यात्मिक अर्थों को उपस्थित करना चाहा है, वहाँ पर उसने वर्ण्य वस्तु के स्थान पर प्रतीकों से काम लिया है।

(५) रहस्यात्मक शैली—जायसी ने इस शैली के द्वारा योग के बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। रहस्यवाद तो जायसी का प्रमुख वाद है। 'पद्मावत' की संपूर्ण कथा ही रहस्यात्मक है। रहस्यवाद-शैली अन्योक्ति-प्रधान होती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जायसी का प्रकृति-चित्रण महत्त्वपूर्ण है। कवि का प्रकृति का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा एवं विस्तृत ही नहीं, अनुभूति-पूर्ण भी है। इसमें सहृदयता सर्वत्र ओतप्रोत है। इस सहृदयता के कारण ही जायसी का 'पद्मावत' उच्चासन पर आसीन है। कवि ने प्रत्येक वस्तु को अपनी व्यापक कल्पना एवं भावुकता के रंग में रँग कर उपस्थित किया है, नीरसता का यथासंभव निवारण किया है। जायसी ने प्राकृतिक दृश्यों के साथ अपने हृदय का जैसा सामंजस्य प्रकट किया है वैसा सूर, सेनापति आदि कुछ कवियों को छोड़ कर अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता।

रस—पद्मावत शृंगार-रस-प्रधान काव्य है। इसमें शृंगार-रस के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों का विशद निरूपण किया गया है। इस काव्य में षड्ऋतु-वर्णन में संयोग-शृंगार के उद्दीपन का रूप और 'बारहमासा' में वियोग-शृंगार के उद्दीपन का रूप विशद रूप से निरूपित किया गया है। इन दोनों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। संयोग के समय पद्मावती को पावस का कैसा अनुभव हो रहा है—

पदमावती चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई।
चमक बीजु, बरसै जल सोना, दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रँगराती पीतम सँग जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी।
सीतल बूँद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाई संसारा।

उधर नागमती के लिए भादों मास कैसे बीत रहा था—

भा भादों दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।
रहौं अकेली गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।
चमक बीजु घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दोइ नैन चुवैं जस ओरी।
धनि सूखै भरे भादों माहाँ। अबहु न आएन्हि सींचेन्हि नाहा।

एक के लिए जहां पावस के मेघ, जल आदि सुहावने अनुभव होते हैं वहाँ दूसरी के लिए वही गरज गरज कर भयभीत करनेवाले और उसे काल का ग्रास बनानेवाले लगते हैं। जहाँ एक के लिए जल-बिंदु शीतल और आह्लादकारी है वहाँ दूसरी के लिए वही जलवर्षण दहनकारी और हृदय को संताप देने वाला है। जायसी ने प्रकृति को मनुष्य के हृद्गत भावों के रूप में ही देखा और वर्णन किया है। संयोग-शृंगार की पद्धति के अनुसार जायसी ने अभिसार का भी विशद चित्रण किया है। संयोग के स्थूल चित्रण अधिकतया अश्लीलता की सीमा तक पहुँचते दिखाई पड़ते हैं जिन्हें कवि आध्यात्मिक आवरण में ढक कर अश्लीलता को निवारण करने का प्रयत्न करता है। परन्तु फिर भी संयोग-शृंगार में कवि ने पूरा कौशल दिखाया है और उसमें अनेक भावुक चित्र उपस्थित किये हैं।

विप्रलम्भ शृंगार जायसी की विशेषता है, वह उसके हृदय के अत्यन्त समीप है। इसमें वे सारे हिन्दी-साहित्य में अपनी तुलना नहीं रखते।

शृंगार-रस के अतिरिक्त और रसों का भी कवि ने वर्णन किया है, परन्तु वे सब रस गौण हैं। इन रसों में हास्य, करुण, वत्सल, वीर, शांत और वीभत्स हैं जिनका 'पद्मावत' में यथास्थान समावेश किया गया है। हास्य, वत्सल और शांत रस के छोटे-छोटे प्रसंग अनेक स्थानों में आये हैं। वीर, शांत और वीभत्स रसों का उत्तरार्द्ध में समावेश हुआ है और करुण-रस जोगी-खंड और सती-खंड में व्यापक रूप से निरूपित हुआ है। इन सब का वर्णन कवि ने काव्य-रीति के अनुसार ही किया है।

अलंकार—'पद्मावत' में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग पाया जाता है। अलंकार-विधान में जायसी ने कविपरम्परा का ही अनुसरण किया है। परन्तु जायसी के उपमान अधिकतर भाव-व्यंजना में सहायता पहुँचाने, उसे और तीव्र और स्पष्ट बनाने एवं रसोद्रेक करने वाले ही हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि जायसी ने प्रकृति से ही उपमान एकत्र किये हैं, और उनके उपमानों की संख्या इतनी अधिक है कि शायद शेष हिंदी-साहित्य में उतने उपमान प्रयुक्त नहीं हुए हैं। ऐसा होते हुए भी जायसी के उपमान सार्थकतापूर्ण एवं प्रयोजनीय ही हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में जायसी ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की ही अधिक योजना की है। इनमें भी हेतूत्प्रेक्षा का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। हेतूत्प्रेक्षा के द्वारा कवि ने अपनी कल्पना का विस्तार बहुत दूर तक किया है, यहाँ तक कि सारी सृष्टि को ही अपने भाव के भीतर ले लिया है। (दे० विरह-वर्णन) इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति अलंकार का तो कवि ने अतिशय प्रयोग किया है। स्वाभावोक्ति और अन्योक्ति तो उसके प्रधान अलंकार हैं ही। इन्हीं के सहारे कवि ने इतनी बड़ी कथा को आध्यात्मिक रूपक के रूप में उपस्थित किया है। यह कहना न होगा कि जायसी को अलंकार-विधान में पर्याप्त सफलता मिली है।

रहस्यवाद—रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक और भावात्मक। इन दोनों का मूलाधार अद्वैतवाद है। योग-मार्ग में प्रथम प्रकार के रहस्यवाद और सूफ़ियों में द्वितीय प्रकार के रहस्यवाद को प्रश्रय मिला। जायसी का रहस्यवाद द्वितीय प्रकार का ही है यद्यपि उनकी रचना में साधनात्मक रहस्यवाद को भी स्थान मिला है। साधनात्मक रहस्यवाद तत्व-चिन्तन का फल होता है और वह ज्ञान-क्षेत्र की वस्तु है। जब अद्वैत का संचार भाव-क्षेत्र में होने लगता है अर्थात् जब मनुष्य भावावेश में आकर बाह्य संसार में उसी अद्वैत शक्ति का अनुभव करने लगता है तब भावात्मक रहस्यवाद का उद्भव होता है। जैसे ऊपर विवेचन किया जा चुका है, जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों में उसी शक्ति का प्रत्यक्षीकरण

किया है, उसने उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित किये हैं। प्रकृति के नाना रूपों में जायसी को वही छटा दृष्टिगोचर होती है। इन पंक्तियों में उसी छटा का चित्रण है :--

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
गा, अँधियार, रैनि मसि छूटी। भा भिनसार, किरनि रवि फूटी।
कँवल विगस तस विहँसि देही। भँवर दसन होइकै रस लेहीं।

"उस अखंड ज्योति का आभास पाकर वह मानस (मानसरोवर और हृदय) जगमगा उठा। देखिये न, खिले कमल के रूप में उल्लास मानसरोवर में चारों ओर फैला है। उस ज्योति के साक्षात्कार से अज्ञान छूट गया, प्रभात हुआ, पृथ्वी पर से अंधकार हट गया। आनन्द से चेहरा (देही-वदन, मुंह) खिल उठा, बत्तीसी निकल आई—कमल खिल उठे और उन पर भौंरे दिखाई दे रहे हैं। अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् का कैसा अपूर्व सामंजस्य है, कैसी बिंब-प्रतिबिंब स्थिति है ?"

नयन-बाणों का प्रभाव देखिए, सारे संसार को, आकाश, तारागण, प्रकृति से वन-खंड इत्यादि सभी को बिद्ध कर रहे हैं—

उन बानन्ह अस को जो न मारा ? वेधि रहा सगरौ संसारा,
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने।
.. ..
रोंव रोंव मानुसतन ढाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े।
बरुणि चाप अस ओपहँ, वेधे रन बन ढांख।
सौजहिं तन सब रोंवा, पंखहिं तन सब पांख॥

ऐसे रहस्यमय चित्रण न जाने कितने 'पद्मावत' के कथा-सूत्र में पिरोये हुए हैं। रहस्यवादी कवियों में जायसी का स्थान सर्वोच्च है। कबीर के रहस्यचित्र रूखे-सूखे प्रतीत होते हैं और जायसी के चित्र मधुरता से ओत-प्रोत। कबीर यदि साधनात्मक रहस्यवादियों के प्रतिनिधि हैं तो ज[illegible] साधनात्मक और भावात्मक दोनों के।

सूरदास

सूर और तुलसी की अमर वाणी हिन्दी-साहित्य की शाश्वत विभूति है। इन दोनों कवियों के काव्यों में वह अमर साहित्यिक ज्योति है जिससे हिन्दी-जगत् आज भी उद्भासित हो रहा है। सूर और तुलसी दोनों हिन्दी-साहित्य के प्राण हैं, जीवन हैं। दोनों समकालीन ही थे। दोनों के साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में जिन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा, वे प्रायः समान ही हैं। केवल धार्मिक प्रभाव के ग्रहण में इन दोनों में भेद दृष्टिगत होता है। यद्यपि दोनों का संबंध एक ही व्यापक धर्म—वैष्णव भक्ति—से रहा, तो भी उस धर्म में प्रचलित दो प्रधान धाराओं में से प्रत्येक ने एक-एक धारा को अंगीकार किया। यह धाराएँ थीं—रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति। राम-भक्ति के प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द जी थे और कृष्ण-भक्ति के स्वामी वल्लभाचार्य। सूर का संबंध वल्लभ-सम्प्रदाय से था, जिसका प्रभाव इनके साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत—ईसा की आठवीं शताब्दी में श्री शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का भारत से निष्कासन कर दिया और मायावाद व विवर्तवाद के सिद्धांतों पर वैदिक अद्वैतवाद की स्थापना की। यह मत वेद-सम्मत था, अतः जनता इसकी ओर आकर्षित हो गई। परन्तु कर्म-प्रधान न होकर यह मत संन्यास-प्रधान अधिक था और वैराग्य की ओर इसका विशेष रुझान था, अतः जनता इससे भी ऊबने लग गई। थोड़े समय पश्चात् श्री नाथमुनि ने दक्षिण भारत में भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान के प्रयत्न किये जिसके अनुसार सगुणोपासना पर आधारित विष्णु-भक्ति अनेक रूपों में विकसित होने लगी। बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव-भक्ति-संबंधी अनेक धर्म-ग्रंथों और पुराणों की

रचना हो चुकी थी। भागवत पुराण का इन सब में विशेष प्रभाव देखा जाता है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में श्री रामानुजाचार्य (१०३७ ई०) का आविर्भाव हुआ जिन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की और उत्तरी भारत में भी वैष्णव भक्ति के पुनरुत्थान का कार्य किया। इनके अतिरिक्त मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य के नाम भी उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनका संबंध भी वैष्णव मत के प्रसार से विशेष रहा है। उक्त चारों आचार्यों के प्रयत्न के फलस्वरूप उत्तरी भारत में वैष्णव मत का जो प्रचार होने लगा था वह पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रबल हो गया। इस शताब्दी के सभी आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद से पीछा छुड़ाने के लिए प्रयत्न किये। पन्द्रहवीं शताब्दी में चार सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए :—(१) विष्णु-स्वामी का रुद्रसम्प्रदाय (२) रामानुज का श्रीसम्प्रदाय (३) निम्बार्क का सनकादि-सम्प्रदाय (४) मध्वाचार्य का ब्रह्म-सम्प्रदाय। इस प्रकार श्री रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी में धर्म के क्षेत्र में भक्ति का जो बीज बोया था, पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक उसने एक वृक्ष का रूप धारण कर लिया।

श्रीरामानुज की शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द का विशेष स्थान है। दक्षिण के उपर्युक्त आचार्यों के भक्ति-मार्ग को सार्वजनिक रूप देने का मुख्य श्रेय स्वामी रामानंद जी को ही है। श्रीरामानुज के श्री-सम्प्रदाय को व्यापक और लोकप्रिय बनानेवाले यही थे। इन्होंने विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर उनके अवतार-रूप राम की भक्ति का उपदेश किया और स्त्रियों और अछूतों को भी भक्ति का अधिकार दे दिया। रामानन्द जी की दूसरी विशेषता यह भी थी कि इन्होंने धर्म-प्रचार के लिए संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा हिन्दी को अपनाया। भक्ति के रूप को जनसाधारण के लिए सुलभ बनाकर, अस्पृश्यों और स्त्रियों के लिए भक्ति के द्वार खोल कर, तथा लोकभाषा को मत-प्रचार का साधन बनाकर रामानन्द जी ने उत्तरी भारत में भक्ति की एक प्रबल धारा

प्रवाहित कर दी। रामानन्दजी के जिन दो प्रधान शिष्यों ने इस प्रचार में विशेष योग दिया और उनके दर्शन और मत को जनसाधारण में लोकप्रिय बनाया, वे थे—निर्गुणोपासक कबीर और सगुणोपासक तुलसी। अपने-अपने क्षेत्र में ये दोनों सर्वश्रेष्ठ थे—यह कहने की आवश्यकता नहीं।

उधर मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी आदि ने दक्षिण में जिस विष्णु-भक्ति का उत्थान किया था, वह धीरे-धीरे उत्तर में भी प्रसार पा रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में पूर्व की ओर बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति की एक प्रबल धारा प्रवाहित कर दी जिसकी मधुर-रस-पूर्ण भक्ति का प्रभाव जनता पर विशेष पड़ा। इसी समय पश्चिमी प्रान्तों में श्रीवल्लभाचार्य के प्रादुर्भाव से कृष्ण-भक्ति का प्रवल प्रभाव पड़ रहा था। वल्लभाचार्य ने श्री विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्तों के आधार पर अपने सिद्धान्तों का निर्धारण कर वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया। वल्लभ का जन्म संवत् १५३५ विक्रमी (१४७८ ई०) माना जाता है। वल्लभाचार्य ने दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की और भक्ति-क्षेत्र में पुष्टिमार्ग की उद्भावना। इनके अनुसार ब्रह्म की दो अचिन्त्य शक्तियाँ हैं—एक आविर्भाव की, दूसरी तिरोभाव की, और उनके तीन स्वरूप हैं—सत्, चित् और आनन्द। ब्रह्म ही जीव और प्रकृति की उत्पत्ति करता है। जीव के रूप में उसके 'सत्' और 'चित्' गुणों का प्रादुर्भाव होता है किन्तु 'आनन्द' गुण का तिरोभाव। इसी प्रकार, प्रकृति में केवल 'सत्' ही आविर्भूत होता है तथा 'चित्' और 'आनन्द' तिरोभूत। इस प्रकार 'सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप' ब्रह्म से 'सत-चित्-जीव' और 'चित्-प्रकृति' की उत्पत्ति होती है। सारांश यह है कि वह त्रिगुणात्मक ब्रह्म ही अपने स्वरूपों के आविर्भाव और तिरोभाव से संसार के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार वल्लभ ने शंकर-अद्वैत के मायावाद को शुद्ध करके अपने मत का प्रतिपादन किया। क्योंकि इसमें माया से अलिप्त रहने के कारण ब्रह्म सर्वथा शुद्ध माना गया है इसलिए वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही मत विष्णुस्वामी का भी था।

अतः इसमें वल्लभाचार्य जी ने श्री विष्णुस्वामी का ही मार्ग ग्रहण किया। परन्तु भक्ति के क्षेत्र में साधना के जिस पुष्टि-मार्ग की उद्भावना वल्लभाचार्य ने की, वह उनकी अपनी मौलिक कल्पना है। 'पुष्टि' का अर्थ इस साधना में जीव पर ईश्वर का 'अनुग्रह' है। इस अनुग्रह से ही जीव की भक्ति का पोषण होता है। भक्ति से कृष्ण (ब्रह्म) की अनुभूति होती है और भगवान् की कृपा और अनुग्रह से ही जीव को भक्ति प्राप्त हो सकती है। इसी अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है। श्री हरिदास जी ने पुष्टिमार्ग का परिचय देते हुए यह बतलाया है कि "जिस मार्ग में सर्व-सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध बनते हैं, जिस भगवान् की इच्छा के बल पर फलरूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह-अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव-मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभव होता है और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।" पुष्टिमार्ग में निरूपित उपासना-पद्धति को समझने के लिए भक्ति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। साधारणतया भक्ति के दो प्रकार माने गये हैं : (१) वैधी (शास्त्रों से अनुमोदित) (२) रागानुगा (भावना पर अवलम्बित)। दूसरे प्रकार की भक्ति के कामरूपा व सम्बन्धरूपा दो और भेद किये गये हैं और सम्बन्धरूपा के अनन्य (उद्धव), वात्सल्य (नंद), दाम्पत्य (राधा), दास्य (विदुर) और सख्य (अर्जुन) ये पाँच प्रकार माने गये हैं। इन प्रकारों में से किसी भी प्रकार का भक्त क्यों न हो उसे पुष्टि-सम्प्रदाय की भक्ति प्राप्त करने के लिए अवश्य नीचे लिखे चार स्वरूपों में से जाना पड़ता है, जो इस प्रकार है—(१) प्रवाह (भगवान् के प्रति प्रेमोदय), (२) मर्यादा (भगवान् के प्रति आसक्ति), (३) पुष्टि (भगवान् के प्रति व्यसन), (४) शुद्ध पुष्टि (भगवान् का कृपापात्र होना)। पुष्टि को प्राप्त करने के लिए गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। अहंकार का पूर्ण नाश कर जब भक्त अपने-आपको पूर्णरूपेण भगवान् के प्रति समर्पित कर देता है तभी

वह पुष्टिमार्ग का अवलम्बन करता है। इस आत्मसमर्पण के लिए भगवान् की 'सेवा' का विधान किया गया है जो दो प्रकार की कही गई है। एक नाम-सेवा और दूसरी स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा तनुजा (तन से), वित्तजा (धन से) और मानसी (मन से) तीन प्रकार की मानी गई है। फिर मानसी सेवा मर्यादामार्गीय (ज्ञान-अवलम्बित) और पुष्टिमार्गीय (भक्ति-अवलम्बित) दो प्रकार की मानी गई है। इन स्वरूपों और प्रकारों में अपने-आपको पूर्णरूपेण डाल कर आत्म-निवेदन करता हुआ सर्वस्व-समर्पण करनेवाला भक्त ही पुष्टिमार्गीय भक्त हो सकता है। वही भक्त सान्निध्य भक्ति का अधिकारी होता है, जिससे गोलोकवास करता हुआ वह सदा प्रभु (कृष्ण) के सहयोगवास का आनन्द प्राप्त करता रहता है। कृष्ण, आत्मा, प्रकृति और मुक्ति के सम्बन्ध में वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं।

कृष्ण—इस मत के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं। वही संसार का पालन, पोषण और संहार करते हैं। जीव और प्रकृति उसी से उत्पन्न हुई हैं। वे गुणात्मक हैं—सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप। जीव में इन गुणों में से सत् और चित् का आविर्भाव तथा आनन्द का तिरोभाव रहा और प्रकृति में केवल सत्गुण का आविर्भाव तथा शेष दोनों गुणों का तिरोभाव। इन्हीं तीनों गुणों की भिन्नता जीव, प्रकृति और ईश्वर के भेदों का कारण है। त्रिगुणात्मक ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस विश्व में उत्पन्न हुआ।

आत्मा—वल्लभ-सम्प्रदाय में ऐश्वर्य, वीर्य्य, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ब्रह्म की विशेषताएँ मानी गई हैं। चूंकि आत्मा का आविर्भाव ब्रह्म के आनन्द गुण के तिरोभाव से हुआ, अतः उसकी विशेषताएँ ये मानी गई हैं—दीनत्व, सर्वदुःखसहन, सर्वहीनत्व, जन्मादि सर्वापत्विषयत्व, देहादिस्वहंबुद्धि और विषयासक्ति। आत्मा की उत्पत्ति ब्रह्म की अपनी शक्ति से हुई, इसमें माया का कोई हाथ नहीं। आत्मा भी उतनी ही सत्य है जितना कि ब्रह्म; जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब

न होकर उसी का अंश है। जीवात्मा और ब्रह्म में इतना ही अन्तर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं और ब्रह्म की अपन वैभव के कारण अनन्त। दोनों ही सत्य हैं।

प्रकृति—प्रकृति की उत्पत्ति सत् के आविर्भाव तथा चित् और आनन्द के तिरोभाव से हुई है। जैसे जीव ब्रह्म का अंश है वैसे ही प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्तिमात्र है। प्रकृति-तत्त्व का विकास उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार दूध से दही बनता है।

मुक्ति—इस सम्प्रदाय में आत्मा तीन प्रकार की मानी गई है—(१) मुक्ति-योगिन्, (२) नित्य-संसारिन्, (३) तमोयोग्य। नित्य-संसारिन् आत्मा अनन्त काल तक आवागमन के चक्र में पड़ी रहती है, उसकी मुक्ति नहीं होती। तमोयोग्य आत्मा इससे भी निकृष्ट है। केवल मुक्ति-योगिन् आत्माओं की ही मुक्ति होती है और वह भी कृष्ण (ब्रह्म) के अनुग्रह से ही हो सकती है। वल्लभाचार्य ने मुक्ति के दो मार्ग माने हैं। (१) मर्यादा-मार्ग जो ज्ञान-साधना का मार्ग है, (२) पुष्टिमार्ग जो भगवान् के अनुग्रह का मार्ग है। आचार्य ने पुष्टिमार्ग द्वारा प्राप्त मुक्ति को मर्यादा द्वारा प्राप्त मुक्ति से श्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने पुष्टिमार्ग की सेवा-विधि की भी व्यवस्था की है। यह सेवा क्रियात्मक और भावात्मक दो प्रकार की कही है। क्रियात्मक सेवा अहंभाव और ममत्व के नाश के लिए आवश्यक है। इस सेवा से भक्ति में दृढ़ता आती है। भावात्मक सेवा के लिए भी क्रियात्मक सेवा अपेक्षित होती है। पुष्टिमार्ग में इस क्रियात्मक सेवा पर अधिक बल दिया गया है। इसीलिए उसमें आठ नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता रखी गई है। जिन्हें भगवान् की 'झांकियाँ' कहा गया है। ये हैं मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थान भोग, सन्ध्या, आरती और शयन। इन कर्मों में संलग्न भक्त का मन प्रातः से सायं तक भगवान् की भक्ति में ही लीन रहता है। इसके अतिरिक्त वर्षोत्सव की सेवाविधि का भी विधान है जिसमें श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव, लोक-

व्यवहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय की मुख्य बातें यही हैं। यह स्मरणीय है कि वल्लभाचार्य की दार्शनिक व्याख्या में राधा को कोई स्थान नहीं दिया गया। परन्तु उनके गोलोकवास के पश्चात् उनके पुत्र श्री विट्ठलदास जी ने राधा को भी सम्प्रदाय में स्थान दे दिया।

वल्लभाचार्य जी ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए भारतवर्ष की अनेक यात्राएं की थीं जिन्हें उस सम्प्रदाय में 'पृथ्वी-प्रदक्षिणाएँ' कहा जाता है। इन्हीं यात्राओं में से एक यात्रा के समय आचार्य व्रज को जाते हुए गउघाट पर ठहरे । वहाँ सूरदास जी की उनसे प्रथम भेंट हुई। उस समय सूरदास जी एक योग्य पण्डित और वैराग्य वृत्तिवाले महात्मा थे। उनकी प्रसिद्धि अच्छे संगीतज्ञों में भी थी। आचार्य को उन्होंने जब अपना पद 'हौं हरि सब पतितन को नायक' गाकर सुनाया तो आचार्य जी ने दीनता और विनय से भरे हुए इस पद को सुनकर सूरदास को 'घिघियाना' छोड़कर प्रभु की यशोलीला का वर्णन का आदेश दिया। सूरदास के यह निवेदन करने पर कि वह लीला के रहस्य को नहीं समझता आचार्य जी ने सूरदास को सम्प्रदाय में दीक्षित करके 'अष्टाक्षर-मन्त्र' सुनाया। तदनन्तर उन्होंने अपनी सुबोधिनी टीका सहित श्रीमद्भागवत स्वयं सुनाया। भागवत के श्रवण से और गुरुचरणों के प्रसाद से सूर के हृदय में कृष्ण-लीला का स्फुरण हुआ और तभी उन्होंने आचार्य की सेवा में यह पद गाकर अर्पण किया 'चकइ री चलि चरन सरोवर जहँ नहिं प्रेमवियोग'। इसी समय से सूरदासजी वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होकर शेष आयु-भर लीला के पदों की रचना और गायन करते रहे। बाद में गोस्वामी विट्ठलदास जी ने जिन आठ भक्त-कवियों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की उन में सूरदासजी सर्वश्रेष्ठ थे। सूर ने अपने मधुर संगीत और सरस काव्य-लहरी से भारतीय जनता को भक्ति-रस में आप्लावित कर दिया जिस से सूखे हृदय हरे हो उठे और उत्साहहीन एवं निराश जनता में पुनः

नई आशाओं, नई स्फूर्तियों और नये उत्साह का संचार हो उठा।

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाएँ—

सूरदास के समय तक पहुँचते-पहुँचते भारत की उक्त अवस्थाओं में सुधार की ओर प्रगति दिखाई देती है। पठान, तुग़लक, लोदी आदि कई शासन-सत्ताएं पैदा हुई और समाप्त हो गई। इन परिवर्तनों के साथ-साथ मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और तज्जन्य बिभीषिकाओं में भी क्रमशः दुर्बलता आती गई। फलतः ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों में बल और स्फूर्ति का ह्रास होता दिखाई देता है। शेरशाह सूरी ही एक ऐसा शासक हुआ जिसने जनता के सार्वजनिक हित की ओर कुछ ध्यान दिया और प्रजा-हित के लिए कुछ कार्य किया। परन्तु उसके पश्चात् शक्तिहीन शासकों का समय आ गया और शासन-प्रबन्ध में शिथिलता आ गई। इसी समय से मुग़ल-शासन का आरम्भ हो गया और कुछ समय पश्चात् ही भारत को अकबर महान् जैसा पराक्रमी, बुद्धिमान्, प्रजारक्षक, कलाप्रेमी तथा उदार शासक मिल गया। अकबर ने समझ लिया कि उसके पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की दमन और पक्षपात की नीति से हिन्दुओं के हृदय को जीतना असंभव है और ऐसा किये बिना मुग़ल-साम्राज्य की नींव का दृढ़ होना भी अत्यन्त कठिन है। अतः उसने हिन्दू-प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये। प्रजा-हित अनेक सुधार किये और सब प्रकार से उदार नीति का पालन प्रारम्भ कर दिया। इससे देश में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति होने लगी। कई शताब्दियों के पश्चात् भारत की जनता ने शान्ति का अनुभव किया।

अकबर से पहले के शासकों के समय में जनता पर जो अत्याचार हुए थे, उनसे बचने के लिए हिन्दुओं में जाति-पांति का भेद और भी दृढ़ हो गया था तथा खान-पान, छुआछूत, ब्याह-शादी, आदि के बन्धन और भी कड़े हो गये थे। हिन्दु-जनता में रूढ़िवाद ने जड़ जमा ली थी और साहसहीनता, अन्धविश्वास आदि हीन-भाव बढ़ गये थे। इन सब कारणों से

हिन्दू-धर्म की सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था में घोर अव्यवस्था फैल गई थी। शिक्षा की व्यवस्था न होने के कारण और आजीविका के स्वतन्त्र साधनों के अभाव के फलस्वरूप हिन्दू-समाज की दशा बहुत हीन हो गई थी। जनता में अशिक्षा और अन्धविश्वासों की प्रवलता के कारण इस समय धर्माचार्यों ने समाज और धर्म की रक्षा के जो प्रयत्न किये उनमें उन्हें यथोचित सफलता न मिल सकी। एक कारण यह भी था कि उस समय साम्प्रदायिक भेदभाव भी उग्रतापूर्ण थे। हिन्दू-धर्म की हानि न केवल विदेशीय धार्मिक आन्दोलन से ही हो रही थी, बल्कि उस हानि का कारण घरेलू धार्मिक विवाद भी थे जिन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया था। शून्यवाद, मायावाद, नास्तिक आदि अनेक मतमतान्तर वाद-विवादों के रूप में एक-दूसरे पर अग्निवर्षा कर रहे थे जिसके कारण जनता में वैराग्य-वृत्ति प्रबल होती जा रही थी। इस समय जवकि भारत देश व हिन्दू-धर्म पर संकट की काली घटाएँ छाई हुई थीं, जिन धर्माचार्यों ने इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भारतीय धर्म और सभ्यता की बुझती ज्योति को सँभालने का प्रयत्न किया उनमें स्वामी रामानन्द जी का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। जिन्होंने अछूतों और दलित जातियों के लिए भक्ति के द्वार खोलकर एक बहुत बड़ा कार्य किया था। उन्हीं के शिष्य कबीरदास ने राम और रहीम की एकता की घोषणा के साथ साम्प्रदायिक कट्टरता को शिथिल करने के प्रयत्न किये। कबीर ही पहले महात्मा अथवा धर्म-प्रचारक हुए जिन्होंने उस भयंकर समय में भी मुसलमान-धर्म के विरुद्ध आलोचनापूर्ण गर्जना की थी। इनके बाद कुछ सूफ़ी कवियों ने हिन्दू-धर्म के प्रति उदार भावना दिखलाई तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की आलोचना करते हुए समन्वय का मार्ग दिखलाया।

इसके पश्चात् ही वल्लभाचार्य जी का समय आ जाता है। उन्होंने हिन्दुओं की सभी दलित जातियों के लिए, बल्कि मुसलमानों के लिए भी वैष्णव मत के द्वार खोल दिये और भंगी, चमार, नाई, धोबी आदि सबको

ऊँची जातियों के समान वैष्णव कहाने तथा भगवान् का प्रसाद पाने का अधिकार दे दिया। उधर राजनीतिक क्षेत्र में अकबर ने हिन्दू और मुसलमानों के साथ समान व्यवहार की नीति को अपनाया और अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता भी दे दी। उनकी उदार-नीति के फलस्वरूप भारत में धार्मिक आन्दोलन बड़े वेग के साथ होने लग गये। अकबर के शासनकाल में सभी भारतीय धर्मों की उन्नति हुई। अकबर ने दीनेइलाही नाम का जो धार्मिक आन्दोलन चलाया उसमें सभी धर्मों के आचार्यों को बुलाकर धर्मोपदेश देने का विधान था। सारांश यह है कि अकबर ने सभी धर्मों को अपने प्रचार की स्वतन्त्रता दे दी। यही समय हिन्दी-साहित्य की चरमोन्नति का था। इसी समय सूर, तुलसी और मीरा आदि हिन्दी-साहित्य की अमर विभूतियों का आविर्भाव हुआ था। इन सब कारणों से ही ईसा की सोलहवीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य के स्वर्ण-युग के नाम से प्रसिद्ध हुई।

जीवन-परिचय—खेद का विषय है कि सूरदास जी ने अपने साहित्य में अपने जीवन-वृत्त पर कोई प्रकाश नहीं डाला। उनके जीवन-वृत्त की अध्ययन-सामग्री का अधिकांश भाग जनश्रुतियों पर निर्भर है, ऐतिहासिक साक्ष्य की सामग्री का अभाव है। इस दिशा में उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त अत्यन्त कठिन हो गया है। फिर भी अनेक विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य के आधार पर इनके जीवन-वृत्त-सम्बन्धी अनुसंधान किये हैं, यद्यपि उनकी खोजों के परिणामों का आधार अधिकतर जनश्रुतियाँ ही हैं। इन सब के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप सूरदास जी का जन्म-संवत् १५३५ माना जा सकता है परन्तु उनके निधन-काल के बारे में किसी एक संवत् को मानना असम्भव हो गया है। केवल यही कहा जा सकता है कि सूरदास जी का गोलोकवास सं० १६२८ और सं० १६४० के बीच किसी वर्ष हुआ। यह सभी मानते हैं कि सूरदास जी का देहान्त सं० १६४२ के पहले हो चुका था। इनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग 'रुनकता' ग्राम को उनका जन्मस्थान मानते हैं और कुछ लोग 'सीही' ग्राम को। ऐसे ही उनके माता-पिता, कुटुम्ब

एवं उनके जाति-कुल के बारे में भी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। सूरदास जन्मान्ध थे अथवा किसी अन्य कारण से बाद में आँखें फोड़कर वे अन्धे हो गये थे इत्यादि शंकास्पद बातों में न पड़ कर निर्विवाद रूप से यही मान लेना उचित है कि वे अन्धे अवश्य थे।

रचनाएँ—सूरदास जी के पाँच ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) सूरसागर, (२) साहित्य-लहरी, (३) सूर-सारावली (४) नल-दमयन्ती (५) ब्याहलो। इनमें 'नल-दमयन्ती' और 'ब्याहलो' अप्राप्य हैं। 'साहित्य-लहरी' में कुछ सूरसागर के पद और कुछ दृष्टकूट पद दिये गये हैं। इस ग्रन्थ के पद प्रायः सूरसागर में भी मिल जाते हैं। 'सूर-सारावली' सूरसागर की सूचीमात्र है। इस प्रकार सूरसागर ही वास्तव में सूरदास जी की महान् रचना है। सूरसागर के बारह स्तम्भ हैं। सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। किन्तु यह श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है और न ही इसमें श्रीमद्भागवत के समान कथाओं का क्रम-विन्यास ही है। सूरसागर में भी दशम स्कन्ध ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस स्कन्ध नें कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है जिनके चित्रण में सूरदास जी का हृदय विशेष रूप से रमा है। अकेले दशम स्कन्ध में ही ३६३२ पद हैं जो अन्य स्कन्धों के पदों की सम्पूर्ण संख्या से छः गुने हैं। वास्तव में यही स्कन्ध है, शेष तो शाखाओं के समान हैं। सूरसागर में सूर की मौलिकता असंदिग्ध है। श्रीमद्भागवत से केवल कथा का आधार ग्रहण किया गया है, शेष सब-कुछ सूरदास का अपना है। इस कथा के उपयोग में सूरदास न पूर्ण स्वतन्त्रता से काम किया है। डा० जनार्दन मिश्र के शब्दों में सूरसागर भागवत् का वैसा ही अनुवाद हो सकता है जैसे कि अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, किरातार्जुनीयम् और शिशुपालवधम् महाभारत के उपाख्यानों के अनुवाद हैं। "डा० धीरेन्द्र वर्मा ने श्रीमद्भागवत के अध्यायों और सूरसागर के पदों की तालिका देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ भागवत में ३३५ अध्यायों में ९० अध्याय कृष्णावतार से सम्बन्ध रखते हैं वहाँ सूरसागर के ४०३२ पदों में से ३६३२ पदों में कृष्ण-लीला का गान है। शेष ४०० पदों में अन्य अवतारों की कथा और विनय के पद हैं। विनय के

पद पहले स्कन्ध में हैं और वे ही सबसे अधिक हैं। उनकी संख्या २१९ है। कृष्ण-लीला के दो अंश हैं, एक ब्रजलीला और दूसरी द्वारिका-लीला। भागवत में इन दोनों लीलाओं को समान महत्त्व दिया गया है। ९० अध्यायों में से ४९ अध्यायों में ब्रज की लीला है और ४१ अध्यायों में द्वारिका की लीला है। किन्तु सूरसागर में ब्रज की लीला को ही महत्त्व दिया गया है और उसमें कृष्ण-लीला के ३६३२ पदों में से ३४९४ ब्रज और मथुराजी की लीला के हैं और १३८ उत्तरकालीन लीला से सम्बन्धित हैं। कथा का आधार भागवत जरूर है किन्तु सूर ने उसे अपने ही ढंग से कहा है।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भागवत से सूर ने केवल कथा-क्रम को ही लिया है जिनमें से अधिकांश कथाओं को वे अति संक्षेप में कह गये हैं। सूर-सागर के प्रधान विषय कृष्ण की बाल-लीलाएँ, कृष्ण की राधा एवं गोपियों के साथ प्रेम-लीलाएँ, गोपी-विरह एवं भ्रमरगीत ही हैं। सूर-सागर का $\frac{९}{१०}$ से अधिक भाग इन लीलाओं के चित्रण में ही प्रयुक्त हुआ है। इन कथाओं का वर्णन भागवत में संक्षेप में ही किया गया है। भागवत के समान सूर-सागर का विभाजन बारह स्कन्धों में तो किया गया है, परन्तु भागवत के समान यह प्रबन्ध-काव्य नहीं है। इससे सिद्ध है कि सूरसागर सूरदास की मौलिक रचना है, छायानुवाद भी नहीं। सूरसागर की पद-संख्या के सम्बन्ध में दो जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं, एक के अनुसार सूर ने एक लाख पदों की रचना की और दूसरी के अनुसार सवा लाख पदों की। गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने चौरासी वार्ता में इस प्रकार लिखा है—"और सूरदास ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भए।" यदि लाख या सवा लाख पद होते तो गोस्वामी जी 'सहस्रावधि' न लिखकर वही संख्या क्यों न लिखते। सूरसागर की एक भी प्राप्त प्रति ऐसी नहीं जिसमें दस हजार से अधिक पद पाये जाते हों। इससे यही मानना उचित है कि अधिक-संख्या-द्योतन के लिए ही लाख या सवा लाख शब्दों का प्रयोग किया गया होगा। सूरसागर एक संग्रह-ग्रन्थ है जिसमें रचना पदों में की गई है। ये पद गेय हैं और राग एवं रागनियाँ हैं। इनकी रचना पिंगल-

छन्दों में की गई है, अतः सूरसागर एक बृहद्-गीतिकाव्य है।

सूरसागर की भाषा—सूरसागर की भाषा ब्रजभाषा है। सूरसागर साहित्यिक ब्रजभाषा की प्रथम रचना है, क्योंकि सूर से पूर्व कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसकी रचना में ब्रजभाषा को ऐसा साहित्यिक और सुव्यवस्थित रूप मिला हो। सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम आचार्य थे। उनसे पूर्व सेन आदि कवि हुए किन्तु उनकी कविता पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती। अमीर खुसरो ने भी इस भाषा में कविता की है। किन्तु सूरदास ने ब्रजभाषा का जो उत्कर्ष उपस्थित किया वह अन्य किसी कवि में नहीं मिलता। सूरसागर की भाषा मधुर, स्वाभाविक और संगीतमय है। संयुक्त वर्णों का जहां तक हो सका सूरदास ने बहुत कम प्रयोग किया है। उन्होंने संयुक्त वर्णों को स्वरागम करके अमीलित करने का प्रयत्न किया जैसे—'विश्वास' के लिए 'बिसास','युक्ति के लिए 'जुगति','जन्म' के लिए 'जनम' और 'भक्ति' के लिए 'भगति'। पंचम वर्ण के स्थान में भी सूरदास ने अनुस्वार का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा वैसे ही मधुर भाषा है, सूर ने उसे और भी कोमल बना दिया। इसके लिए उन्होंने 'श' के स्थान में 'स' और 'ण' के स्थान में 'न' का प्रयोग किया है। जहां तक हो सका सूर ने परुष अक्षरों के स्थान में कोमल अक्षरों का ही प्रयोग किया है जिससे शब्दों में मधुरता का समावेश हो गया है। सूर ने प्राकृत भाषा के लोयन (लोचन), नाह (नाथ), केहरी (केशरी) आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। अपभ्रंश के पुराने शब्द और रूप भी सूरसागर में काफ़ी मिलते हैं। कहीं-कहीं व्याकरण-विरोध और क्लिष्टता आदि दोष अवश्य पाये जाते हैं, परन्तु अधिकांश में सूर की भाषा सुसंगठित, सुबोध और चलती हुई है। फ़ारसी अरबी भाषा के शब्दों का भी सूरदास ने यत्र-तत्र प्रयोग किया है, किन्तु उनका रूप हिन्दी का-सा करके। जैसे मसाहत बांकी, दर, मुहकम, मिलिक, जेरो आदि फ़ारसी-अरबी के शब्द हैं। सूर ने मुहावरों का प्रयोग अधिक तो नहीं किया, परन्तु जितना किया है सजीवता के साथ किया है। जैसे 'कैसे खैंयतु हाथिन के संग गांडे', 'काकी भूख गई बयारि भखि', 'तुमसों प्रेम-कथा को कहिवो मानों काटिवो घास'.

'वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे' । 'हमारे हरि हारिल की लकरी','कत पट पर गोता मारत हो भूड़ के खेत','खोटी खाई','कारी कामरि चढ़ै न दूजौ रंग', 'न्हात खसं जनि वार' । इस प्रकार सुन्दर मुहावरों और चलते हुए वाक्यों का प्रयोग कर सूर ने भाषा को स्वाभाविक और चलता हुआ रूप दे दिया । ब्रजभाषा को कोमल-कांत पदावली से समन्वित करने का श्रेय सूर को ही है । सूर ने ब्रजभाषा का जो शृंगार किया वैसा उनसे पहले अथवा पीछे आने वाला कोई कवि न कर सका । सूर ने ब्रजभाषा को सुसमृद्ध बनाकर उच्चतम सिंहासन पर ऐसे आसीन कर दिया कि आने वाली चार शताब्दियों तक तो उसका उत्तर भारत के साहित्य पर निष्कंटक राज्य रहा ।

सूर-काव्य का सैद्धान्तिक आधार—वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के थोड़े ही समय पश्चात् सूरदास ने उस सम्प्रदाय में विशेष स्थान पा लिया था । इस दृष्टि से उनसे सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना की आशा करना स्वाभाविक ही है । परन्तु सूरदास पर इस सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष का उतना प्रभाव पड़ा प्रतीत नहीं होता जितना उसके भक्ति-पक्ष का । भक्त-हृदय कवि होने के कारण उनका हृदय कृष्ण लीलाओं में ही अधिक रमा । वे परम भावुक कवि थे । अतः दर्शन के सूक्ष्म विवेचन की ओर वे अधिक प्रवृत्त नहीं हुए । उधर प्रवृत्त होने की उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि साम्प्रदायिक महत्त्व-स्थापना के लिए उनके जीवन-काल में पहले तो स्वयं आचार्यश्री ही विद्यमान रहे और पीछे आचार्य-पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी । परन्तु सम्प्रदाय की गोष्ठियों में सूरदास भी सम्मिलित हुआ करते थे, जिनमें धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर चर्चाएँ और वाद-विवाद होते रहते थे, जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से सूरदास को घनिष्ठ परिचय हो गया था । यही कारण है कि उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण हो गया है ।

वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक और भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पहले उल्लेख किया जा चुका है । यहां केवल इतना ही दर्शनीय है कि सूर ने उन

सिद्धान्तों का अपने काव्य में कहां तक दिग्दर्शन कराया है।

कृष्ण—सूरदास के नीचे लिखे एक पद से ही उनके सिद्धान्तों का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। वैष्णव सिद्धान्त एवं लीला-रहस्य-सम्बंधी जो उपदेश उन्हें अपने गुरु से मिले उन सबका सार सूर ने अपने एक ही पद में कर दिया है। वह पद यह है :—

"सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, निहरत जुगल सरूप ।।
सकल तत्त्व ब्रह्मांडदेव पुनि, माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गोपाल ।।
कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ प्रभु तत्त्व सुनायो, लीला भेद बतायो ।।"

इससे स्पष्ट है कि सूर के कृष्ण मूल रूप में निर्गुण थे। वे अखण्ड ब्रह्म थे, अनादि थे, निर्विकार थे और अनुपम तथा एकरस थे। प्रकृति, विश्व, श्रीपति, नारायण, माया—ये सब उस गोपाल के अंश हैं। सम्पूर्ण सूर-सागर में सूर के कृष्ण का यही अनन्त स्वरूप है परन्तु निर्गुण ब्रह्म की 'अवि-गत गति कछु कहत न आवै' है, अतः यह अनुभव करते हुए सूरदास ने उसके सगुण स्वरूप को अधिकतर अपनाया है—"सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावे।" सूरदास के अनुसार संसार को लीला दिखाने के लिए ही निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करते हैं—"वेद उपनिषद यश कहैं निर्गुणहि बतावैं। सोई सगुण होई नन्द की दांवरी बँधावैं।"

त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की उपासना हिन्दू-धर्म में बहुत पहले से चली आ रही थी। सूर ने इन तीनों में कोई भेद नहीं माना है। सूर ने शिव और कृष्ण को न केवल समान बतलाया है बल्कि कृष्ण को शिवरूप में चित्रित भी किया है। देखिए :(१) "बरनौ बालवेष मुरारि" तथा (२) "सखी री नन्दनंदन देखु। धूरि धूसरि जटा जूटलि हरि किये हर भेसु·····
सूरदास के हृदय बसि रह्यो श्याम शिव को ध्यान।"

इसी प्रकार राम और कृष्ण की एकता का भी सूर ने स्थान-स्थान पर

बखान किया है। सूर ने राम को भी उतनी ही महत्ता दी है जितनी अपने इष्टदेव कृष्ण को।

(१) रामकृष्ण अवतार मनोहर भक्तन के हित काज।
सोई सार जगत में कहियत सुनो देव द्विजराज॥
(२) पहिले ही इन हती पूतना बांधे बलि को दान।
सूर्पणखा ताड़का संहारि श्याम सहज यह बान॥

ऐसे अनेकों ही पद सूर के काव्यों में पाये जाते हैं।

अनेक देवताओं और अवतारों में ऐक्य-भाव-द्योतन की प्रवृत्ति उस युग की विशेषता थी और सूर भी इसमें किसी से पीछे नहीं रहे थे। बल्कि सूर ने राम और कृष्ण में जितना तादात्म्य स्थापित किया उतना तुलसी भी न कर सके। यशोदा शिशु कृष्ण को रामकथा सुना रही हैं। जब वे सीता-हरण प्रसंग पर आती हैं तो कृष्ण नींद से चौंक उठते हैं—

रावण हरण कर्यो सीता को सुनि करुणामय नींद बिसारी।
सूर श्याम कह उठे चाप को लछिमन देहु जननी भ्रम भारी॥

स्पष्ट है कि सूर के लिए रामावतार और कृष्णावतार में कोई भेद न था। यह ऐक्य-भावना वास्तव में उनके निर्गुणत्व पर ही आधारित है। पर निर्गुण सर्वसाधारण के लिए दुष्प्राप्य है, वह प्रत्येक के बोध की वस्तु नहीं। इसीलिए सूरदास ने उसके निर्गुण स्वरूप पर आस्था रखते हुए भी उसके सगुण स्वरूप के चित्रण में ही विशेष आनन्द-लाभ किया। 'भ्रमर-गीत' में सूर ने अपने सिद्धान्त-पक्ष का जो काव्यात्मक निरूपण किया है उससे भी यही अभिप्रेत है। उद्धव-गोपी-संवाद के अन्त में गोपियों के मुंह से निम्न पद कहला कर सूर ने इसी ओर संकेत किया है कि ज्ञान-मार्ग अथवा साकारोपासना-मार्ग दोनों ठीक हैं, परन्तु जो जिसे रुचे वही उसके लिए श्रेय है :—

ऊधो तुम अति चतुर सुजान।
द्वै लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहूं में बिधु प्रीतम, रिपु भान॥

सूरदास ज्ञानमार्ग को भी मानते थे परन्तु उन्हें भक्ति-मार्ग अधिक सरल, आकर्षक एवं सुलभ प्रतीत हुआ अतएव उन्होंने भक्ति-मार्ग को ही ज्ञानमार्ग से उत्कृष्ट चित्रित किया जो वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुकूल ही था।

माया—माया के सम्बन्ध में भी सूरदास ने अपने गुरु के सिद्धान्तों को ही माया ठहराया है। सूर ने माया का वर्णन तीन प्रकार से किया है, (१) माया का दार्शनिक रूप, (२) माया का सांसारिक रूप, (३) माया का राधा-रूप।

(१) दार्शनिक माया का वर्णन इस पद में किया गया है—

कह्यो हरि के भय रवि शशि डरैं। वायु वेग अतिशय नहि करैं।
अगिनि रहै जाके भय मांही। सो हरि माया जा वश मांही।
माया को त्रिगुणातम जानो। सत रज तम ताको गुण मानो।
तिन प्रथमैं महतत्त्व उपजायो। ताते अहंकार प्रगटायो।

माया ब्रह्म के ही वश में है। वह सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणों वाली है। वह इन तीन तत्त्वों से संसार का निर्माण करती है किन्तु वह जो कुछ करती है ब्रह्म की इच्छा से ही। उसकी स्वतन्त्र सत्ता कुछ नहीं। यह सृष्टि माया के वश में है और माया हरि के वश में। महाप्रभु वल्लभ का भी यही मत है। इसी माया को अविद्या भी कहा जाता है। माया अपना मोहिनी रूप डाल कर मनुष्य के हृदय में अविद्या को उत्पन्न कर देती है अतः अविद्या के दूर होने से ही विद्या अर्थात् सत्य-ब्रह्म के दर्शन सम्भव हैं। इसलिए सूरदास बार-बार प्रार्थना करते हैं—"सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नँदलाल।" इसी पद में सूरदास ने अविद्या के अनेक अंगों का भी उल्लेख किया है—यथा—काम, क्रोध, मोह, विषय, लोभ, मद, मत्सर इत्यादि। इस अविद्या-रूपिणी माया को कवि ने कृष्ण की कामरी के रूप में काव्यात्मक ढंग से चित्रित किया है जिससे स्पष्ट है कि जो कुछ भी भगवान् के रूप को भक्त की दृष्टि से ओझल करता है वह माया ही है।

(२) माया का दूसरा रूप सांसारिक वस्तुओं का मोहकारी रूप है, जो अत्यन्त शक्तिशाली है।

"महा मोहिनी मोही आतमा मन करि अघहिं लगावै।"

यह मोहिनी रूप आत्मा को मुग्ध कर अनेक पापों में फँसा देता है। इस अर्थ में सभी धन-सम्पत्ति, पुत्र-कलत्र तथा हर्ष-विनोद एवं विलास की सभी सामग्री इसी माया के ही रूप हैं। (सूरसागर पद ३०,३३,४९, ६६, २०८) माया का यही रूप नारी बनकर मनुष्य को मोहित करता है तथा उसको रूप-सौंदर्य के जाल में फँसा कर उसे भगवान् से दूर हटाता है। सूरदास ने माया के इस रूप को भी काव्य का सुन्दर विषय बना दिया है। कवि ने गाय के रूपक में इस माया के जो चित्र अंकित किये हैं वे उसकी कुशलता का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। देखिए सूरसागर स्क० १ पद ३५——

माधव जू नेकु हटको गाई।
निसि वासर यह भटकत इत उत प्रगट गही नहिं जाई। इत्यादि,

अथवा सू. सा. स्क. १ पद ३३——

माधव जू यह मेरी इक गाई।
अब आजु ते आपु आगे लै आइये चराई॥

माया को प्रत्येक रूप में सूरदास ने भगवान् के वश में ही माना है। वह हरि की वशवर्तिनी ही है——

अविगत अगम अपार आदि नाहीं अविनासी।
परम पुरुष अवतार माया जिनकी है दासी॥

महेश, शेष और देवता जिसकी सेवा करते हैं वह माया भी भगवान् की दासी ही है——

अलख निरंजन निर्विकार अच्युत अविनासी।
सेवत जाहि महेश शेष सुर माया दासी॥

(३) माया के समान राधा भी कृष्ण की शक्ति है। राधा का कृष्ण के साथ वही सम्बन्ध है जो रमा का विष्णु के साथ, उमा का शिव के साथ और सीता का राम के साथ। जिस प्रकार रमा, उमा और सीता प्रकृति के प्रतीक हैं उसी प्रकार राधा भी है। सूरदास की राधा वही माया या प्रकृति ही है——"सुन्दर त्रय गुण रस की सींवाँ सूर राधिका श्याम"। प्रथम मिलन

के समय ही कृष्ण ने राधा पर यह भेद खोल दिया था कि वे स्वयं परब्रह्म हैं और वह उनकी पुरातन-पत्नी प्रकृति है। दशम स्कन्ध के २६वें और २७वें पदों से राधा-कृष्ण के दार्शनिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हो जाता है। कृष्ण कहते हैं—ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।
हैं तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजायो॥

(सू. सा. स्क. १० पद ३६)

यह सुनकर राधा अपने पुरातन सम्बन्ध को जानकर प्रसन्न हो उठती है—

तब नागरि मन हर्ष भई।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्द भई।
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि भई। (स्क. १० पद २७)

राधा की कल्पना सूरदास की मौलिकता है। जैसा कि पहले कह आये हैं, वल्लभाचार्य की दर्शन-पद्धति में राधा का कोई स्थान नहीं है और न ही कृष्ण के जीवन-चरित-सम्बन्धी पुराणों में ही ऐसा पाया जाता है। महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत में भी राधा का नाम तक नहीं। केवल ब्रह्मवैवर्त पुराण में ही उसका वर्णन आया है। हो सकता है कि इस सम्बन्ध में सूर ने विद्यापति से प्रभावित हो राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में दिखाकर उसे कृष्ण की शक्ति माना हो। वल्लभाचार्य के स्वर्गवास के पश्चात् गो० विट्ठलदास ने सम्प्रदाय में राधा को जो ब्रह्म की आह्लादिनी चित्-शक्ति का स्थान दिया उसमें शायद सूरदास का ही प्रभाव है। जिस प्रकार सूर ने काव्य में राधा को कृष्ण की पत्नी के रूप में चित्रित किया, उसी प्रकार गोस्वामीजी ने दर्शन में राधा को चित्-शक्ति-रूप में प्रतिष्ठित किया।

मुक्ति और उसके साधन—पुष्टिमार्ग को जनसाधरण के लिए सुलभ बनाने के अर्थ आचार्य ने श्रीकृष्ण के 'गोलोक' की विस्तारपूर्वक कल्पना की। श्रीकृष्ण गोलोक में निवास करते हैं। भक्त-आत्माएँ उनके

साथ रहती हैं। अपनी लीला के द्वारा भक्तों को आनन्द देने के लिए ही वे अवतार लेते हैं। भगवान् के साथ भक्त-आत्माएँ भी ब्रज में अवतीर्ण हो जाती हैं और ब्रज ही 'गोलोक' बन जाता है। भक्त ही नन्द, यशोदा, गोपी और ग्वालों का रूप धारण कर लेते हैं और कृष्ण और राधा की लीलाओं का आनन्द उठाते हैं। ज्ञान-प्रधान होने के कारण मर्यादा-मार्ग जन-साधारण के लिए सुगम नहीं, इसीलिए आचार्य ने पुष्टिमार्ग की अवतारणा की, जिसमें भगवान् का 'अनुग्रह' ही सब-कुछ है। इसीलिए इस मार्ग को उन्होंने मर्यादा-मार्ग (ज्ञान-साधना) से ऊँचा स्थान दिया। ज्ञान-योग द्वारा प्राप्त मुक्ति, पुष्टि से प्रभु के अनुग्रह से मिलने वाली मुक्ति से निम्न श्रेणी की है, अतएव भक्त को भक्ति-समन्वित हो पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण एवं सर्वस्व-समर्पण करके प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अनुग्रह द्वारा मुक्ति प्राप्त करने वाली आत्मा को भगवान् कृष्ण के साथ गोलोक-विहार का आनन्द मिलता है। यह मार्ग सर्वसाधारण के लिए खुला है। कोई भी आत्मा भक्ति-पूर्वक पुष्टि-साधना करके गोलोक-विहारी कृष्ण के साथ विहार करने का परम सुख प्राप्त कर सकती है। काम, क्रोध, भय, मोह आदि साधारण दुर्बलताओं और सांसारिक प्रवृत्तियों के होते हुए भी भगवान् का अनुग्रह प्राप्त हो जाने पर भक्त भवसागर को पार कर सकता है। उसे इन दुर्बल-ताओं के निवारण के लिए किसी योगादि साधना में पड़ने की आवश्यकता नहीं। प्रभु की कृपा हो जाने पर ये सब दुर्बलताएँ प्रभु-भक्ति के अंगों में परिणत हो जाती हैं और उसकी इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुख हो भगवान् के सामीप्य-लाभ में सहायक हो जाती हैं। इस प्रकार आचार्य जी ने भक्ति का मार्ग इतना सुगम कर दिया कि उसके सामने मुक्ति के अन्य सब साधन कठिन प्रतीत होने लगे। फिर पुष्टिमार्ग में दास्य-भक्ति वर्जित थी। इसमें भक्त को घिघियाकर आत्म-निवेदन करने की आव-श्यकता न थी। वह तो कृष्ण का सखा था और अनेक दुर्बलताओं एवं दोषों के रहते हुए भी उसे प्रभु की कृपा प्राप्त हो सकती थी। उसे संयम की भी अधिक आवश्यकता नहीं, वह तो राधा-कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध से

प्रभु की लीला का वर्णन करके अपनी वासनाओं की अभिव्यक्ति कर सकता था। यही सब कारण थे जिनसे पुष्टिमार्ग इतना लोकप्रिय हो गया। सूरदास ने अपने काव्य में पुष्टिमार्ग का अत्यन्त सरस एवं सारगर्भित प्रतिपादन किया है। उन्होंने सूरसागर में भक्ति के पाँच प्रकारों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार) का वर्णन किया है। सूर के विनय के पदों में पुष्टिमार्ग में वर्जित दास्य-भक्ति का भी प्रभावपूर्ण वर्णन है। हो सकता है कि ये पद उनके पुष्टिमार्ग में प्रवेश करने से पहले की रचना हों। पर 'मुरली-स्तुति' के पदों में भी वही दास्य-भावना है। वास्तव में पुष्टि के सिद्धान्तों में सूरदास की अनन्य श्रद्धा थी और उन्होंने इनका अपने काव्य में सबल प्रतिपादन किया है। देखिए—

काम क्रोध में नेह सुहृदता काहू विधि करै कोई।
धरैं ध्यान हरि को जो दृढ़ करि सूर सो हरि सो होई॥

किसी भी प्रकार हो भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य भगवान् हो सकता है। स्त्री हो या पुरुष, जिस भी भाव से भगवान् का भजन करे वह भगवान् को पा लेता है—

भज जेहि भाव जो मिलै हरि ताहि त्यों,
भेद भेदा नहीं पुरुष नारी।
सूर प्रभु श्याम ब्रज वाम आतुर काम,
मिली वन धाम गिरिराज धारी।

भगवान् के लिए हृदय में प्रेम चाहिए, फिर भगवान् कैसे न मिलें। सूर ने तो भगवान् को सर्वप्रकारेण प्रेम के वशीभूत बतलाया है—

प्रीति के वश में हैं मुरारि।
प्रीति के वश सूर त्रिभुवन विदित प्रीति वश सदा राधिकास्वामी।

इस प्रकार सूर ने भावनामयी भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति के सिद्धान्त का खूब प्रतिपादन किया है। यह प्रेम-भावना वात्सल्य, सख्य अथवा शृंगार किसी भी प्रकार की हो, भगवान् के अनुग्रह का साधन हो सकती है। इसलिए "सूर ने इन सब प्रकार की आसक्तियों का विशद चित्रण किया है।

नन्द-यशोदा का प्रेम वात्सल्यासक्ति की भक्ति का स्वरूप है। गोचारण प्रसंगों में ग्वालों के कृष्ण के प्रति प्रेम में सख्य-भक्ति है। गोवर्धन-धारण के वर्णन में पूजासक्ति है। गुण-माहात्म्य उनके विनय के पदों एवं भ्रमर-गीत में पाया जाता है। इन सबसे बढ़कर सूरसागर का विषय है कान्ता-सक्ति की भक्ति-भावना।" सूर की अतिप्रिय भक्ति-भावना यही है। इसमें उसका हृदय विशेष रूप से रत पाया जाता है। गोपियों की माधुर्य-भावना वास्तव में एक भक्त की भावना ही का प्रतीक है। सूर ने गोपियों की आसक्ति के चित्रण में रस की जिस मधुर लहरी को प्रवाहित किया उसका प्रवाह चिरकाल तक भारतीय साहित्य को सिंचित करता रहा ; यद्यपि बाद में उसने नग्न शृंगार का जामा पहन लिया तो भी इस रस-सरिता ने हमारे साहित्य को नन्ददास, मीरा, रसखान, घनानन्द तथा पद्माकर जैसे सुन्दर रत्न भी प्रदान किये, जिनके लिए हिन्दी-साहित्य सूर का सदा ऋणी रहेगा। परन्तु यह असंदिग्ध है कि सूर का शृंगार भक्ति-भावना से ही प्रेरित एवं समन्वित था। सूर की माधुर्य-भावना उसकी साधना की अवस्थाओं का प्रतीक थी। जिस प्रकार गोपियों की प्रेमासक्ति स्मरण से आरम्भ होकर गुण-महिमा, विरह, आत्मसमर्पण एवं तन्मयता की क्रमिक दशाओं में से गुजरती हुई चरम विरह की दशा को प्राप्त हुई उसी प्रकार भक्त के लिए भी इन्हीं दशाओं को पार करके विरह की उस चरम दशा को पहुँचना आवश्यक है। यह दशा वह है जिसे पुष्टिमार्ग में भक्त का पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण और आत्मनिवेदन कहा है।

सूरदास ने भक्ति को योग और वैराग्य से श्रेष्ठ माना है इसीलिए अपने भ्रमरगीत में उन्होंने योग-साधना की जी खोल कर भर्त्सना की है। सूरदास के समय तक हठयोग आदि की कृच्छ्र साधनाओं का प्रचार था। इसके अतिरिक्त कबीर के अनुयायी सन्त-महात्मा निराकार ब्रह्म की उपासना के गीत गा रहे थे। परन्तु व्यावहारिक रूप में ये महात्मा लोग भी मानवी दुर्बलताओं से ऊपर नहीं थे। माया-मोहिनी की भर्त्सना करते हुए भी ये सब उसके शिकार थे ही। कबीर के 'करनी-कथनी-ऐक्य' के सिद्धान्त

अब केवल उपदेशमात्र ही थे। अधिकतर सन्त ऐसे थे जो दर्शन के बौद्धिक व्यभिचार से ही निराकार सिद्धान्तों का पालन पूरा समझ रहे थे। सच्चे सन्त बहुत कम थे। पाखण्डियों की भरमार थी जो अपने-आपको तथा दूसरों को भी धोखा दे रहे थे। अतः सच्चे भक्तों का, उन्हें देख दुःखी एवं व्यथित होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि सूरदास भी निर्गुणोपासकों से प्रसन्न न थे। अतः उन्होंने ऐसे पाखण्डवाद की भरसक अवहेलना की।

(१) सूरदास या निर्गुण सिन्धुहिं कौन सकै अवगाहि।

(२) मुक्ति रहो घर बैठि आपने निर्गुण सन्त दुख पैये।

(३) अविगत गति जानी न परै।

(४) अविगत गति कछु समुझि न परै।

निराकार की उपासना से सूरदास अपने कान्ह की भक्ति को श्रेष्ठ समझते थे—

"कौन काज या निर्गुण सों चिर जीवहु कान्ह हमारे।"

सूरदास ज्ञान और योग-साधना को भक्ति से न केवल निम्न श्रेणी का ही समझते थे बल्कि निष्फल समझते थे। उनके विचार में भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का अमोघ साधन था। सगुण उपासकों में सूरदास ही प्रथम भक्त कवि थे जिन्होंने निर्गुणवाद और योग-साधना का दार्शनिक विरोध उपस्थित किया। भ्रमरगीत में सूरदास ने इस शुष्क विषय को अत्यन्त सरस एवं हृदयग्राही रूप में उपस्थित किया है। उद्धव उस समय के पाखंडी निराकारवादियों के ही प्रतीक हैं और गोपियां साकारोपासक प्रेमभावनामयी भक्ति की। गोपियों ने निराकारवाद को न केवल दुरूह एवं कृच्छ्र-साधना ही कहा हैं बल्कि उसे व्यर्थ सिद्ध किया है। जन-साधारण के लिए साकारोपासना ही सरल, सुगम और श्रेयस्कर है। भ्रमरगीत में सूर ने साकार-निराकार के नीरस विवाद को अत्यन्त सरस एवं काव्यात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया है।

सूर का यह 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सबसे महत्त्वपूर्ण वाग्वैदग्ध्य-भरा उपालम्भ-काव्य है। इस संवाद में तर्क के स्थान पर जिन मार्मिक

उक्तियों और युक्तियों से काम लिया गया है वे अनमोल हैं। साथ ही भ्रमरगीत विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार सांसारिक विरह-चित्रण द्वारा शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन सूर की अनोखी सूझ एवं प्रतिभा की अमर देन है।

सूर काव्य की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ—महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूर के काव्य को 'सागर' का नाम देकर 'यथा नाम तथा गुण' के स्थान में 'यथा गुण तथा नाम' की उक्ति को चरितार्थ किया। वास्तव में वह एक अथाह सागर ही है, जिसमें जहाँ भी डुबकी लगायें अमूल्य रत्न हाथ लग जाते हैं। निःसंदेह 'सूरसागर' एक विशाल रत्नाकर है जिसकी विशेषताएँ असंख्य हैं, अनन्त हैं। श्री नाभादास जी ने अपनी 'भक्तमाल' में सूर के प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की है उस पर सूर का यथार्थ अधिकार है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि हृदय हरि-लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

सूर की कविता का श्रवण कर 'सिर चालन करना' ही नहीं श्रोता को 'नतमस्तक' होना पड़ता है। उक्त पद में सूर-काव्य के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डालते हुए नाभा जी ने उसकी श्रेष्ठता का कारण भी बतला दिया है। इसमें काव्य के सभी अंगों की गणना कर दी गई है। और सूरसागर में इन सबका बड़ी उत्तमता से पोषण किया गया है। 'प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि हृदय हरि-लीला भासी' इस एक पंक्ति में ही सूर की जो आलोचना हो गई है इससे बढ़कर कवि की अन्तर्दृष्टि के बारे में क्या कहा जा सकता है! हिन्दी के विशाल काव्य-क्षेत्र में एकमात्र तुलसी ही ऐसे कवि हो गये हैं जो सूर से टक्कर ले सकते हैं। अन्यथा उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती सभी कवियों को सूर के सामने घुटने टेकने पड़ते हैं। सूर के काव्य

का श्रवण कर अकबर के समय के सर्वश्रेष्ठ संगीताचार्य तानसेन ने दरबार में जिन शब्दों से सूर का परिचय दिया था उसमें भी अतिशयोक्ति का लेशमात्र आभास नहीं है, वह अक्षरशः सत्य है—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर ।।

सूर के पदों में मानव को आकुल-व्याकुल कर देने की अनोखी शक्ति विद्यमान है। सूर के काव्य-कौशल के सम्बन्ध में डा० सूर्यकान्त का यह कथन उल्लेखनीय है—"उसने लीलामय भगवान् की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा बालक तथा अबला में, ईश्वर की मौलिक उत्पादिका शक्ति, सूक्ष्म शृंगार का प्रतिफलन न करके भगवान् को भगवान् से मिलाया है, स्त्रीत्व को पुंस्त्व में मिलाया है और कामार्त प्रकृति का विशुद्ध ब्रह्म में लोकोत्तर समन्वय किया है।........बाल्य तथा यौवन में सरलता तथा ऐन्द्रियता, रति तथा विरति, विलास तथा निरास सब कन्धे से कन्धा मिलाये उसी एक राजपथ पर चल रहे हैं जो प्रणयरूप निर्वाण पर, तथा उपनिषदों के 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' पर पहुँचने का सरल एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।" यही सूर की सर्वोत्तम विशेषताएँ हैं। उन्होंने ऐहिक लीलाओं का चित्रण करते हुए भी लोकोत्तर मार्ग को प्रशस्त किया। ऐन्द्रीय वासनाओं को ईश्वरोन्मुख प्रवृत्ति प्रदान की और लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक भक्ति की प्रेरणा दी। सूरसागर की यही एक अनोखी विशेषता है कि उसका विषय अलौकिक होते हुए भी इतना सरल और सामान्य प्रतीत होता है कि साधारण व्यक्ति भी उसे पढ़ कर आनन्द उठा सकता है। और साथ ही संस्कारों का परिष्कार भी कर सकता है। कृष्ण-जैसे लौकिक चरित्र को भी सूर ने एक सामान्य मानव के समान चित्रित किया है और उसके द्वारा मानवीय चरित्र का चित्र उपस्थित किया है। शेष पात्रों का तो कहना ही क्या ? वे तो पूर्णरूपेण सामान्य मानव ही हैं। यशोदा माँ है, नन्द पिता हैं। इसी प्रकार गोप और गोपियों में भी वैसे ही भावों का अंकन किया गया है। चरित्रों की इस सामान्यता के कारण सूर का काव्य प्रत्येक व्यक्ति

के लिए सुगम हो जाता है।

सूर की अन्य विशेषता उसकी सर्वांगीण मौलिकता है। यह मौलिकता न केवल उसके विषय-चित्रण में है बल्कि नये रसों के निर्माण में भी है। विषय की दृष्टि से सूरसागर का आधार भागवत पुराण है। सूर ने गोपालकृष्ण की जन्म से लेकर मथुरा-प्रयाण तक की लीला का चित्रण किया है जो भागवत के दशम स्कन्ध का विषय है। परन्तु सूर ने इस कथा को अपने ही ढंग से उपस्थित किया है जो सर्वप्रकारेण मौलिक है। इस विषय पर पहले भी संकेत किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस चित्रण में सूरदास ने जो भी चित्र उपस्थित किये, जो भी चरित्र अंकित किये और जिन दशाओं एवं परिस्थितियों का वर्णन किया वे सब नितान्त मौलिक हैं, और वे सूर की अपनी प्रतिभा, प्रत्युत्पन्न-मति, अनोखी सूझ एवं कवि-कुशलता की देन हैं। वास्तव में भागवत की कथा को सूर ने एक नया आकार और नवजीवन प्रदान किया।

सूर के काव्य में नव रसों की पुष्टि पाई जाती है। परन्तु उन्होंने कुछ ऐसे रसों की भी सृष्टि की है जिनका व्यवहार उनके पूर्व के साहित्य में नहीं पाया जाता। ये रस हैं—वत्सल और भक्ति। वत्सल-रस की सृष्टि सूरदास ने ही सब से पहले की है। इसी प्रकार भक्ति-रस को भी काव्य का रूप देने वाले हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम कवि सूर ही हैं। यद्यपि इनसे पहले के सगुण भक्तों में भी भक्ति-रस के दर्शन होते हैं परन्तु भक्ति-भावना की जो सजीवता और आत्मनिवेदन की जो तीव्रता सूरदास के पदों में पाई जाती है वह उन कवियों में नहीं है। वास्तव में भक्ति-रस को प्रौढ़ रूप देने वाले सर्वप्रथम कवि सूरदास ही हैं। इनके अतिरिक्त एक रस और है जो सूरसागर में पाया जाता है। यह रस वह है जिसका प्रस्फुटन सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम में किया है, जिसे डा० रामरत्न भटनागर ने 'मधुर-रस' का नाम दिया है। इस सम्बन्ध में डा० भटनागर कहते हैं कि "मधुर-रस से हमारा तात्पर्य शृंगार के उस रूप से है जो राधा-कृष्ण के प्रेम में प्रस्फुटित होता है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि में इसे शृंगार-रस ही माना गया है परन्तु भक्त के लिए

भगवान् की शृंगार-लीला वास्तव में शृंगार नहीं, वह भक्त के लिए सहज और मधुर साधना है। भक्त भगवान् के साथ सख्य भाव से रहता है और भगवान् की यह लीला उस रस की सृष्टि करती है जिसका कोई नाम न होने के कारण हम उसे 'मधुर-रस' कहते हैं। राधा-कृष्ण के भक्तों के लिए उनकी विलास-लीला का स्मरण और गान हरि-भजन तथा साधना से कम नहीं है।''

सूरदास की सर्वोत्कृष्ट विशेषता उनका बाल-चित्रण है जो साहित्य के लिए सूर की एक नवीन देन है। हिन्दी-साहित्य ही क्या, सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में सूर की समता का वात्सल्य-चितेरा नहीं मिलेगा। वे इस क्षेत्र में अद्वितीय हैं। 'संस्कृत-साहित्य में भी केवल वाल्मीकि ही ऐसे हुए जिन्होंने बाल-वर्णन किया परन्तु सूर के सामने उनका वर्णन भी नहीं ठहर सकता। वाल्मीकि के पश्चात् किसी कवि ने वात्सल्य भाव से तन्मय होकर शिशु के अधरों को परखा, उसकी तोतली वाणी को सुना, उसके धूलि-धूसरित देह को प्रेम से गद्गद हो देखा तो सूर ने, इसलिए सूर को वत्सल-रसावतार कहा जाता है। सूर और वात्सल्य का ऐसा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो गया है कि एक नाम लेते ही स्वतः दूसरे का स्मरण हो आता है।

वात्सल्य-वर्णन में सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है। सूर की अन्धी आँखों ने बाल-जीवन का कोना-कोना झांक डाला था, उनके प्रज्ञा-चक्षु ने बाल्यावस्था की न केवल शारीरिक चेष्टाओं, भाव-भंगियों एवं नटखटपन को ही प्रत्यक्ष देख लिया था बल्कि बालकों के अन्तः-करण में प्रवेश कर उनकी अन्तःप्रकृति का भी पूरा परिचय प्राप्त कर लिया था। वास्तव में सूर ने शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के बाल-जीवन की जितनी दशाओं का और जिस विशद एवं विस्तृत रूप में मार्मिक चित्रण किया है उसे देखकर विद्वानों का उनके जन्मान्ध होने पर आशंका करना युक्ति-संगत ही प्रतीत होता है। सूर ने इस जीवन के जितने भी चित्र अंकित किये हैं वे सब सच्चे हैं, स्वाभाविक हैं, सुस्पष्ट हैं। वे कल्पित नहीं, उसके दैनिक जीवन के व्यवहृत क्रिया-

कलाप हैं। प्रत्येक माता-पिता उनके साक्षी हैं। सूर का बाल-जीवन इस मर्त्य-लोक की अमर निधि है। वह किसी देश व काल की वस्तु न होकर सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन है। वह प्रत्येक देश के प्रत्येक बालक का व्यवहार है, अधिकार है। बालक के समान माता के हृदय का भी सूर ने उतना ही सूक्ष्म निरीक्षण किया है और उतना ही स्वाभाविक चित्रण ! माता के स्नेहपूर्ण हृदय का चित्रण भी सूर ने वैसी ही भावुकता एवं स्वाभाविकता के साथ किया है। 'सूर जहाँ पुत्रवती माता के प्रेमपूर्ण हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी उसी सतर्कता के साथ छू सके हैं।' प्रत्येक चित्र से ऐसा अनुभव होता है मानों सूर ने माता का ही हृदय पाया हो। सूर ने वैरागी और अन्धा होते हुए भी जिस स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता एवं मार्मिकता से वात्सल्य-चित्रण किया है वह रात-दिन बालकों का पालन-पोषण करने वाले माता-पिता के लिए भी ईर्षा की वस्तु है। संक्षेप में हम यही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि सूर का अकेला वात्सल्य-वर्णन ही उन्हें अमर बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। इस क्षेत्र में भारतीय साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी कोई कवि सूर की समानता नहीं कर सका और स्यात् आगे भी न कर सकेगा।

बानगी के लिए कौन-सा चित्र पेश करें, सब के सब समान हैं, घटिया बढ़िया का भेद करना अत्यन्त कठिन है। कन्हैया ने मिट्टी में मुंह भर रखा है। माता ने देख लिया है। वह इसे पकड़ लेती है। देखिए सूर ने इस दृश्य को कैसे अंकित किया है——

इक कर सों भुज गहि गाढ़े करि इक कर लीने सांटी।
मारति हों तोहिं अबहिं कन्हैया बेगिन उगलौ माटी।।

कौन गृहस्थी होगा जो इस दृश्य से अपरिचित होगा ? कौन है जो इस दृश्य को पढ़ कर अपने ही बालक का स्मरण कर हृदय में गुदगुदी का अनुभव न करेगा ?

मां बच्चे को दूध पिलाने के लिए अनेक प्रकार से ललचाती है——

बेटा, दूध पियोगे तो चोटी बड़ी हो जायगी, बड़े भैया की-सी हो जायगी। भोला बालक दूध पीने लगता है, एक हाथ में दूध का कटोरा है, दूसरे हाथ में चोटी टटोलता है। दूध सारा पी लिया, पर चोटी जरा भी न बढ़ी। ऐसा कई बार हो चुका। एक दिन खीज कर कह उठे—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहती बल की बेनी ज्यों ह्वैहै लांबी मोटी।
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी॥

माता का भी उत्तर देखिए, कैसे जाल में फँसाये रखना चाहती है—

"कजरी का पय पियहु लाल तब चोटी बाढ़ै"

अभी तक तो धौली का ही दूध पिया है, जब काली गऊ का दूध पियोगे तो चोटी बढ़ेगी। न जाने माताएँ इस प्रकार के कितने झूठ नित्य बोला करती हैं।

माता के दरबार में छोटे भैया का बड़े भैया के विरुद्ध मुकदमा दायर होता है। बड़े भैया मुझे स्वयं भी खिजाते हैं और औरों से भी अपमानित कराते हैं। तू तो मुझे ही मारना जानती है दाऊ को कुछ भी नहीं कहती। मैं छोटा-सा जो हूँ इसीलिए—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनों, तोहि जसुमति कब जायो।

× × ×

चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहिं को मारन सीखी, दाऊहिं कबहूँ न खीजै।

× × ×

अभियोग संगीन था। कान्ह का मुंह क्रोध से लाल हो गया था। माता ने गोद में बिठाया, मुख चूमा और निर्णय दे दिया—

"सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं हौं जननी तू पूत॥"

सूर बाल-वर्णन करते अघाते नहीं। जिस तन्मयता से सूर ने वर्णन किये हैं पाठक भी पढ़ता-पढ़ता उसी तन्मयता का अनुभव करने लग जाता है। सूर को अपने पाठक का अघाना भी पसन्द नहीं, वे उसके मन को नये-से-नये दृश्यों से लालायित करते रहते हैं। सूर तो वाल-गोपाल के पुजारी थे ही, अपने नवनीत-प्रिय की मनोहर झांकियों से न जाने कितने हृदयों को उन्होंने उस माखनचोर के वशीभूत कर दिया।

शृंगार-वर्णन—

वात्सल्य-वर्णन में तो सूर अद्वितीय हैं ही, शृंगार-वर्णन में भी वे हिन्दी-साहित्य में अत्युच्च स्थान रखते हैं। संयोग और विप्रलम्भ-शृंगार के दोनों पक्षों का सूर ने उत्कृष्ट और पूर्ण चित्रण किया है। हिन्दी-साहित्य में जायसी की नागमती का विरह-वर्णन विप्रलंभ शृंगार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा जाता है, परन्तु जायसी संयोग-शृंगार का उतना उत्कृष्ट चित्रण नहीं कर सके जितना सूर। यद्यपि जायसी विप्रलम्भ शृंगार में सूर से एक पग आगे हैं परन्तु शृंगार के सम्पूर्ण चित्रण को देखते हुए सूर ही को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शृंगार-कवि मानना पड़ता है। वात्सल्य के समान शृंगार की भी कोई अवस्था ऐसी नहीं जो सूर से अछूती छूट गई हो। संचारी भावों एवं अनुभावों का तो सूर-सागर एक कोष है। इनका ऐसा बाहुल्य अन्यत्र दुर्लभ है।

सूरदास प्रमुखतया प्रेम, सुन्दरता, मधुरता एवं मानव की अन्यान्य कोमल भावनाओं के कवि हैं। जब कभी और जहाँ-कहीं भी सूर को सुन्दरता और मधुरता के चित्रण का अवसर मिला उन्होंने तन्मय हो जी खोल कर उनका वर्णन किया। कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन करते सूर अघाते ही नहीं। परन्तु प्रेम के प्रति भी सूर की भावना उतनी ही तीव्र है, उतनी संवेदेनापूर्ण है जितनी कि सौंदर्य के प्रति। यही कारण है कि सूर संयोग और वियोग—प्रेम की दोनों दशाओं का अत्यन्त भावुक वर्णन कर सके। कृष्ण और गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रेम

केवल ऐंद्रीय अथवा रूप-लिप्सा से उत्पन्न वासना नहीं। वह तो वाल्यकाल से लेकर यौवनावस्था तक के निरन्तर साहचर्य के द्वारा क्रमिक विकास-प्राप्त प्रेम है। अतएव इसमें वासना के उस रूप का अस्तित्व नहीं है जो रूप-लिप्सा से प्रेरित प्रेम में होता है। यही कारण है कि यह प्रेम ऐहिक होते हुए भी लोकोत्तर है। वस्तुतः सूर का उद्देश्य शृंगार का भौतिक आनन्द दिखाने का नहीं वरन् उसमें जो मानसिक तन्मयता आती है उसको दिखाने का है। सूर की ऐंद्रीयता लोकोत्तर है। कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ता है कि भक्त-प्रवर सूरदास का लक्ष्य आध्यात्मिक था। परन्तु, भक्त होते हुए भी वे कवि थे अतः यदि उन्होंने भौतिक प्रेम के चित्र भी उपस्थित कर दिये तो कोई पाप नहीं किया। उन्होंने केवल परम्परा का पालन किया जिसके अनुसार लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का उपमान वनाया जाता रहा है। यह अवश्य है कि अपनी प्रकृत भावुकता के वेग में वहकर सूर ने कहीं-कहीं मर्यादा का भी उल्लंघन कर दिया है। सूर ने प्रेम के अंकुरित होने से लेकर पल्लवित होने तक की सभी दशाओं का बड़ा ही मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है।

सूर के संयोग-वर्णन में भौतिक सुषमा तो है पर वासना नहीं है। प्रेम ही की वहां प्रधानता है। देखिए —

देखेहु अनदेखे से लागत।
यद्यपि करत रंग भरे एकहि, इकटक रहे निमिष नहिं लागत।
इत रुचि दृष्टि मनोज महासुख, उत सोभागुन अमित अनागत।

× × ×

उत सन्मुख सों सावधान सजि, इत सनाह अँग अँग अनुरागत।
ऐसे सूर सुभट ए लोचन, अधिकों अधिक स्याम सुख पावत॥

राधा और कृष्ण की छेड़-छाड़ देखिए—

(१) करिल्यो न्यारी, हरि, आपनी गैयां।
नहिन बसात लाल कछु तुम सों सबै ग्वाल इकठैयां।

× × ×

(२) धेनु दुहत अतिही रति बाढ़ी ।

एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।।

मोहन कर सों धार चलति पय, मोहनि सुख अति ही छवि बाढ़ी ।

× × ×

(३) तुम पै कौन दुहावै गैया ।

इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ।

× × ×

यह छेड़-छाड़ बेचारी मुरली तक ही पहुँचती है । वे उसे ईर्ष्या के कारण न जाने कितने प्रकार से देखती हैं—

(क) मुरली के गर्व का वर्णन—

माई री ! मुरली अति गर्व काहू बदति नहि आज ।

हरि के मुखकमल देखु पायो सुखराज ।

× × ×

(ख) ईर्ष्या—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।

सुन, री सखी ! जदपि नंदनंदहिं नाना भांति नचावति ।।

× × ×

"सूर का संगीत-वर्णन प्रेम-संगीतमय जीवन की गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता । राधा-कृष्ण के रंग-रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भंडार प्रतीत होता है ।" (रामचन्द्र शुक्ल)

विप्रलम्भ शृंगार—सूर का संयोग-वर्णन जितना विस्तृत एवं पूर्ण है उनका विप्रलम्भ भी उतना ही विस्तृत एवं व्यापक है । उनका वियोग-वर्णन साहित्य की एक निराली चीज़ है । वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं वे सब सूर के वियोग-वर्णन म पाई जाती है । 'भ्रमरगीत' तो विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है ।

"सूर के विरह में एक ऐसी मर्मस्पर्शी अनुभूति है जिसका हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विरह और प्रेम दोनों ही स्थानों पर वह सूक्ष्म आत्मा और स्थूल देह की सत्ता के भेद को भूल जाता है। भ्रान्ति के लिए उसकी दृष्टि में स्थान ही नहीं। विरह-पीड़ा उसे अवदात बना देती है। वह विषाद में आनन्द और आनन्द में विषाद को आत्मसात् करता है। इस आनन्द और विषाद के तादात्म्य का तुलसी तथा अन्य कवियों ने भी वर्णन किया है, पर उसमें सूर-जैसी वह विकसित सुषमा नहीं है। जहाँ श्याम के बिरह में गायें रोती हैं, वृक्ष स्तम्भित हो जाते हैं, यमुना काली हो जाती है। प्रतीपी भावों के ऐक्य, भेदाभेद के विवर्त को सिद्ध करने की जैसी सरल तथा परिपक्व प्रक्रिया सूर ने व्यक्त की है, वैसी विरले ही कवि कर पाये हैं।"

(आचार्य चतुरसेन)

गोपियों की वियोग-दशा का सूर ने जो धारा-प्रवाह वर्णन किया है, उसमें न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार हो गया है। कृष्ण की अनुपस्थिति में सायं-प्रभात तो वैसे ही आते-जाते हैं पर 'मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली।' सायं समय कृष्ण को बन से लौटते रोज देखा करती थीं। उनके चले जाने पर उसको 'स्मृति' मन से नहीं जाती—

एहि बिरियां बन ते ब्रज आवते।
दूरहि तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते।

प्रकृति नित्य की तरह हरी-भरी है। गोपियों से उसका यह विलास सहा नहीं जाता। वे वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे?
बिरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हौ निलज लाज नहिं तुम कौ, फिर सिर पुहुप धरे?

जिस विरह में गोपियां रो-रो कर सूख गई उसमें यह वन हरा-भरा और पुष्पित क्यों हो?

नैनों को तो पावस का ही रूप दे दिया है—'निसिदिन बरसत नैन हमारे' विरहोन्माद में एक ही वस्तु उन्हें कभी कुछ दीखती है, कभी कुछ।

उठते हुए काले बादल कभी मदन के हाथियों का रूप धर उन्हें भयभीत करते हैं—

देखियत चहुँ दिसि तो घनघोरे ।
मानो मत्त मदन के हथियन वल करि बंधन तोरे ।।
कारे तन अति चुवत गंड मद, वरसत थोरे थोरे ।
रुकत न पवन महावत हू पं, मुरत न अंकुस मोरे ।।

और कभी वही अपने सुखद यक रूप में ही सामने आ जाते हैं। कृष्ण की तुलना में वे अत्यन्त परोपकारी और दयालु दिखाई पड़ते हैं—

बरु ए बदराऊ बरसन आए ।
अपनी अवधि जानि नँद नन्दन, गरजि गगन घन छाए ।

ऐसे ही प्रकृति की अन्यान्य वस्तुएँ भी उन्हें कभी रुलाती हैं, कभी खिजाती हैं और कभी उनकी जैसी दुःख-दशा में दृष्टिगोचर हो सांत्वना देती हैं। प्रकृति के इन विभिन्न रूपों से चित्रण में कवि की कल्पना-शक्ति प्रस्फुटित हो उठी है। सूर की कल्पना जिस प्रकार भावानुकूल हो प्रत्यक्ष हुई है वह पाठक को सूर के आगे नत-मस्तक कर देती है।

सूर-सागर का कला-पक्ष भी उतना ही पुष्ट है जितना भाव-पक्ष। सूर जहाँ परम भावुक थे, वहाँ ऊँचे कलाकार भी थे। उनके काव्य का बहिरंग भी उतना ही निर्दोष एवं पूर्ण चमत्कृत है। आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त करने का ढंग सूर खूब अच्छी तरह जानते थे। नव रसों का पोषण जिस कौशल से सूर ने किया उससे उनका काव्य अलंकारों की सुन्दर रंग-स्थली बन गया है। सूर के अलंकार-विधान में प्रयत्न दिखाई नहीं देता, उसमें स्वाभाविकता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रकृति ने सूर की अभिव्यक्ति को अलंकृत करने के लिए सूर के समक्ष अपना हृदय खोल कर रख दिया हो। सूर ने अलंकारों की भरती करने का प्रयत्न नहीं किया है। उन्होंने अलंकारों का वहीं तक आश्रय लिया जहाँ तक वे उनकी भावाभिव्यक्ति में सहायक हुए हैं। यही कारण है कि उनकी कविता असंख्य अलंकारों से अलंकृत होती हुई भी उनके

बोझ से दबी हुई कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सूर के अलंकार, भावों की अभिव्यक्ति के लिए सहायक होकर आये हैं अतएव अलंकारों से भाव और भी स्पष्ट हो गये हैं। सूर ने भावों को स्पष्ट करने, उन्हें तीव्र बनाने का ही कार्य अलंकारों से लिया है न कि पांडित्य-प्रदर्शन का। उनकी अलंकार-योजना में कल्पना की बे-पर की उड़ानों के दर्शन कहीं नहीं होते।

पांडित्य-प्रदर्शन एवं भाव-गहनता के विधान के लिए सूर ने कुछ कूट पदों की भी रचना की है। सूर ने 'दृष्ट-कूट' रचना केवल कवि-परम्परा के अनुपालन में ही की है। इसमें सूर पर कबीर की 'उलटबांसियों' का प्रभाव स्पष्ट है। इसके लिए सूर ने यमक, रूपक और श्लेषादि अलंकारों का प्रयोग किया है। सूर इसमें भी पूर्णतया सफल हुए हैं। यमकालंकार से सुसज्जित सूर के रूपक अत्यन्त सफल बने हैं।

इस प्रकार काव्य के दोनों अंगों (अन्तरंग एवं बहिरंग, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति) पर सूर का समान अधिकार है। सूर का काव्य सर्वांग-सम्पन्न है। यही कारण है कि सूर ने भारतीय हृदयों में आज भी अपना विशिष्ट स्थान बना रखा है। जीवन के जिस क्षेत्र को सूर ने अपनाया उसमें उनका सर्व-सत्तासम्पन्न अधिकार है। उसमें सूर अप्रमेय हैं, अद्वितीय हैं। विश्व-साहित्य में भी बेजोड़ हैं।

तुलसीदास

आविर्भावकाल--

"चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिन्दी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुस्लिम-साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिए वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। यह देश का नैराश्यकाल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतवन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया।......लोकमानस के समक्ष राम और कृष्ण स्पष्ट करके रक्खे गये। सूरदास के आते-आते भगवान् की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अन्त में उनकी अखिल जीवनवृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।"*

राजनैतिक परिस्थितियां—राजपूतों के सम्पूर्ण राज्य समाप्त हो चुके थे। कुछ राजा अपनी स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखने का प्रयास कर रहे थे किन्तु पारस्परिक विद्रोह और असद्भावनाओं के होने पर उनके प्रयास कैसे सफल हो पाते? पठान बादशाहों ने एक विशेष प्रकार की कटुता उपस्थित कर दी थी जिससे हिन्दुओं का धर्म, भाषा, सभी-कुछ संकट में थे। इसके पश्चात् भारतवर्ष पर मुग़लों का प्रभुत्व हुआ। इनका धर्म भी इस्लाम था। मुग़ल-सम्राटों ने भारत को उन्नत बनाने की चेष्टा की। उनमें पठानों जैसा

*शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास जी।

कट्टरपन भी न था, और कई एक तो कला के अच्छे पारखी थे। यद्यपि उनकी नीति भी हिन्दुओं का राज्य समाप्त कर उन्हें पद-दलित करने की थी किन्तु उनकी प्रणाली इतनी वर्बर नहीं थी। कुछ लोग कहते हैं कि उनकी नीति हिन्दुत्व को समूल समाप्त कर, भारतवर्ष में इस्लाम-धर्म का डंका पीटने की थी, परन्तु बहुत-से लोग यह भी मानते हैं कि अकबर आदि सम्राटों के हृदय में द्वेष की भावना इतनी प्रबल नहीं थी। वे अन्य व्यवहारों द्वारा अपने राज्य और धर्म की वृद्धि करना चाहते थे, अत्याचार की ओर उनका झुकाव न था। फिर भी हिन्दू संकट में थे और अपना धर्म, ईमान तथा परिवार भी आपत्ति से घिरा समझते थे। राज्य की भाषा फ़ारसी थी। स्थान-स्थान पर युद्ध होते थे। राज्य की ओर से हिन्दी के लिए किसी भी प्रकार के प्रोत्साहन की व्यवस्था प्रतीत नहीं होती थी।

धार्मिक अवस्था—धर्म की दृष्टि से प्रधानतः इस्लाम और हिन्दू-धर्म ही दृष्टि-गोचर होते हैं। इस्लाम राज्य का धर्म था और उसका सर्वप्रकारेण संरक्षण होता था। बहुत-से लोग धर्म-परिवर्तन करते थे। उन्हें अनेक प्रकार का प्रलोभन दिया जाता था, अनेक प्रान्तों में बल का प्रयोग भी किया जाता था। इधर हिन्दू-धर्म अपने अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा था। देश में निर्गुण और सगुण दोनों धाराएं प्रवाहित हो रही थीं। निर्गुण-सम्बन्धी सूफ़ी अनेक प्रेम-गाथाओं द्वारा अपने सिद्धांतों का रोचक रूप सामने रख रहे थे—उन पर भारतीय चिन्तन का भी प्रभाव पड़ रहा था। इनके साथ ही ज्ञानाश्रयी संत, राम और रहीम की एकता का उद्देश्य लेकर धार्मिक वैमनस्य को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों के एक ही देश में बस जाने से यह आवश्यक हो गया कि पारस्परिक विरोध को समाप्त किया जाय और एक ऐसा मार्ग निश्चित किया जाय जो समान रूप से सबके अनुकूल हो। कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, नाभादास प्रभृति संतों ने इस ओर बहुत प्रयास किया। सम्राट् अकबर ने स्वयं 'दीने इलाही' नामक मत चलाना चाहा किन्तु सफलता किसी को नहीं मिली। राम और रहीम का भेद नहीं मिट सका और आज भी वह समस्या ज्यों-की-त्यों उलझी पड़ी है।

कौन जाने यदि यह समस्या हल हो जाती तो देश इतने रक्तपात, विभाजन आदि से बच जाता। सगुण मत दो धाराओं में चल रहा था। वल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्ग का आरम्भ किया, उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमें सूर मुख्य थे। कृष्ण की भक्ति के अनेक रूप जनता के सामने प्रस्तुत हो रहे थे, उनकी लीलाओं का गुणगान होता था और वात्सल्य तथा शृंगार की रचना द्वारा जनता के हृदय में भक्ति का संचार कराया जा रहा था। वेदान्त के अनेक सिद्धांतों का अध्ययन चल रहा था। अद्वैतवाद के अनुयायी अपना कार्य कर रहे थे, कुछ लोग विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते थे। रामानन्द की शिष्य-परम्परा चल रही थी। वैष्णव-मतावलम्बियों में शैवों के प्रति सद्भावना नहीं थी। शैव और वैष्णवों के झगड़े प्रायः होते थे। अनेक मार्ग, सम्प्रदाय तथा 'फ़िर्के' चल रहे थे। राम-नाम-महिमा का आरम्भ हो चुका था। अनेक रूपों में राम की कथा कही जा चुकी थी।

सामाजिक दशा—समाज की व्यवस्था कुछ हीन-सी प्रतीत होती थी। अनेक कौटुम्बिक और पारिवारिक समस्याएँ खड़ी हो रही थीं। उनका ठीक होना आवश्यक था। समाज में अनेक पाखंडी, धूर्त व्यक्ति तरह-तरह की अव्यवस्था फैलाते थे। बहुत-से देवी-देवताओं की पूजा होती थी, यहाँ तक कि मुसलमान औलिए और मदार भी पूजे जाते थे। वर्ण-व्यवस्था में खराबियां दृष्टिगोचर हो रही थीं—आश्रम-धर्म लुप्तप्राय था। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र भाई-भाई, पति-पत्नी, मित्र-मित्र के आचरणों में आडम्बर का आभास होने लगा था। बलि की प्रथा भी थी, कर्मकाण्ड भी चलता था, पंडितों में कट्टरपन आ गया था। छुआछूत बराबर था, किन्तु रामनाम लेने का सबको अधिकार हो, इस प्रकार की प्रवृत्तियां चल रही थीं। वैवाहिक प्रथा बहुत कुछ आजकल की-सी ही थी—वैवाहिक संस्कार, बरात का जाना, स्त्रियों के गीत, दहेज आदि सब-कुछ था। लगभग ४०० वर्ष पूर्व का भारत सामाजिक दृष्टि से बहुत-कुछ आज जैसा ही था। आज हम जो कुछ आगे बढ़ पाये हैं, अनेक परिवर्तन हुए हैं वे विस्तृत रूप में स्थायी नहीं कहे जा सकते। सामाजिक

व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन होने के लिए अभी समय अपेक्षित है।

साहित्यिक गतिविधि—साहित्य में काव्य का ही प्रचलन था। उस समय के गद्य-ग्रंथ तो बहुत ही कम मिलते हैं। साहित्यिक कलाकार पद्य की ओर ही अभिरुचि रखता था। काव्य में अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। वीरगाथा-कालीन चन्द ने दोहा-छप्पय की पद्धति चलाई थी, कबीर ने दोहे और पद लिखे, जायसी आदि प्रेमगाथाकारों ने दोहा-चौपाई छंदों में प्रबन्ध-काव्यों की रचना की थी, रहीम के द्वारा बरवै छंद का आविष्कार हुआ, सूरदास के पद प्रसिद्धि पा चुके थे, कवित्त-सवैया-पद्धति भी चल रही थी, नीति के दोहे भी प्रचलित थे। इस प्रकार पद्य में अनेक प्रणालियाँ चल रही थीं, और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कवि उनका प्रयोग करते थे। भाषा की दृष्टि से ब्रज और अवधी दोनों भाषाएँ प्रयुक्त हो रही थीं। गोस्वामी वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ जी के वैष्णव शिष्य कृष्ण की लीलाओं का वर्णन ब्रजभाषा में करते थे, और प्रेमगाथाकारों ने अपने प्रबन्ध-काव्यों की रचना के लिए अवधी भाषा को अपनाया। इस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भाषा तथा शैली की दृष्टि से अनेक प्रगतियाँ थीं और एक उत्तम कवि के लिए क्षेत्र विस्तृत था।

तुलसी के जीवन पर प्रकाश--

उपलब्ध सामग्री—भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने तुलसी के संबंध में यथेष्ट अनुसंधान किया है और उनकी जीवनी बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यद्यपि आज भी जन्म तिथि तथा प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत नहीं हो सकी है, किन्तु जीवन-सम्बन्धी अनेक बातों का पता लग चुका है। उनके जीवन पर प्रकाश डालनेवाली निम्न सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है—

(१) **भक्तमाल**—नाभादास जी रचित—तुलसीदास जी के संबंध में एक छप्पय मिलता है—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सतकोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन॥

अब भक्तन सुखदेन बहुरि वपु धरि (लीला) बिस्तारी।
रामचरन रसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलिकुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥

(२) भक्तमाल की टीका—प्रियदास द्वारा सुनी बातों के आधार पर यह टीका प्रस्तुत की गई है। तुलसीदास जी के संबंध में कवित्त-संख्या ५०० से लेकर ५१० तक ११ कवित्त हैं। ये जीवनी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। यद्यपि इसी के आधार पर तुलसी-जीवनी-संबंधिनी अन्य पुस्तकें भी बनीं, जैसे--राजा प्रतापसिंह का 'भक्तकल्पद्रुम', विश्वनाथ-सिंह रचित 'भक्तमाल', महाराज रघुराजसिंह की 'रामरसिकावलि'।

(३) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—गोस्वामी गोकुलनाथ जी की लिखी हुई। ये भी नाभादास जी की तरह गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। अपनी 'वार्ता' में नन्ददास जी का वर्णन करते हुए उन्होंने तुलसीदास जी की भी चर्चा की है।

(४) तुलसी-चरित—इसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदास जी थे। इसमें चार खंड हैं (१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। यह एक दीर्घकाय पुस्तक है और इसके छंदों की संख्या इस प्रकार है--

'एक लाख तेंतीस हजारा। नौ सो बावन छंद उदारा ॥'

इससे प्राचीन समय की सभी बातों का परिज्ञान होता है। किन्तु इस ग्रंथ में वर्णित अनेक घटनाओं की पुष्टि अन्यत्र कहीं नहीं होती। इसके अनुसार तुलसीदास जी राजापुर में उत्पन्न हुए। ये चार भाई थे। इनके तीन विवाह हुए, और तीसरी स्त्री बुद्धिमती के कहने से विरक्त हुए... आदि।

(५) मूलगोसाईं-चरित—रचयिता बाबा वेनीमाधवदास। यह किसी बड़े 'चरित' का संक्षिप्त संस्करण कहा जाता है। इसके अनुसार बहुत-सी तिथियों में उलट-फेर हुआ। तुलसी का जन्म-संवत् इस प्रकार

मिलता है—

पंद्रह सौ चौवन विषं, कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

इसमें तिथियों का बाहुल्य है और अनेक तिथियां ज्योतिष के आधार पर ठीक उतरती हैं।

इस पुस्तक का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में भी हुआ है। पं. रामनरेश त्रिपाठी ने इस ग्रंथ पर बहुत विचार किया है और उनका निष्कर्ष है कि यह 'चरित' भ्रमपूर्ण तथा असत्य बातों से भरा हुआ है। यह ग्रंथ कवि की जीवन-संबंधी प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है और डा. श्याम-सुन्दरदास तथा डा. बड़थ्वाल ने इसे आधार मान कर कवि के जीवन-वृत्त की रचना की है। डा. माताप्रसाद गुप्त ने भी इस ग्रंथ की समीक्षा की है और कहा है—"हम कहां तक उसको आधार मान सकते हैं, कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है।" डा. गुप्त को एक 'गोसाईं-चरित्र' और भी मिला है, जिसकी मूल 'गोसाईं-चरित' के साथ गहरी समानता है।

(६) तुलसीसाहिब लिखित आत्मचरित—तुलसी साहिब हाथरस के रहनेवाले थे, और अपने-आपको पूर्व-जन्म में गोस्वामी तुलसीदास हुआ बताते थे। वे अपने पूर्व-जन्म का चरित्र लिखते हैं जिसके अनुसार संवत् १५८९ में राजापुर ग्राम के कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया था। १६१४ वि. में ज्ञानोदय हुआ, संवत् १६३१ में 'मानस' की रचना की और १६८० की श्रावण शुक्ला ७ को शरीर छोड़ा। इसे हम प्रामाणिक कह सकते हैं पर है यह जनश्रुतियों का एक पुराना संकलन ही।

(७) तुलसीदास-स्तव—रचयिता मोरो पंत। यह 'स्तव' कवि की प्रशंसा में लिखा गया है। उनका कहना है कि तुलसीदास जी ने सात रामायणों की रचना की और कृष्ण-मूर्त्ति को राम-मूर्त्ति में परिवर्तित कर दिखाया। 'भक्तमाल' के लेखक की ही भांति ये भी तुलसीदास जी को वाल्मीकि का अवतार मानते हैं।

इन साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त कवि से संबंधित स्थानों पर भी कुछ सामग्री प्राप्त होती है जिनसे कवि की जीवनी पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए—

१. काशी की सामग्री—तुलसी-घाट, तुलसी के चित्र, पंचायतनामा, उत्तरकाण्ड, विनयपत्रिका।

२. अयोध्या की सामग्री—तुलसी चौरा, श्रावण कुंज का बालकांड।

३. राजापुर की सामग्री—तुलसी की मूर्त्ति, मुआफ़ीदारों को मिली दो सनदें।

४. कोरों की सामग्री—तुलसी का स्थान, नरसिंहजी का मन्दिर, बालकाण्ड की प्रति। इस सामग्री के आधार पर आत्माराम के पुत्र होना, रत्नावलि से विवाह, फिर वैराग्य आदि की बातें प्राप्त होती हैं।

तुलसीदास जी के संबंध में अनेक जनश्रुतियां भी प्रचलित हैं, और उन पर भी विद्वानों ने विचार किया है क्योंकि उनके प्रचलित होने का भी कोई कारण होता है। साथ ही जनश्रुतियों की संख्या इतनी है कि इनको भुलाया भी नहीं जा सकता। जैसे—(१) प्रेत-मिलन, (२) हनुमान जी से परिचय, (३) राम-दर्शन, (४) राम का पहरा, (५) टोडर से मैत्री, (६) मधुसूदन सरस्वती से घनिष्ठता, (७) नाभाजी से भेंट, (८) मीरां से पत्र-व्यवहार, (९) कारावास, (१०) चमत्कार—मुर्दा जिलाना, कृष्ण-मूर्ति का राममूर्ति होना, हत्या छुड़ाना, लड़की से लड़का बनाना, पंडितों से शास्त्रार्थ आदि।

आधुनिक विद्वानों ने भी तुलसीदास जी की जीवनी पर बहुत खोजें की है। इस कार्य का श्रीगणेश विदेशी विद्वानों द्वारा हुआ, जिनमें विल्सन महोदय का नाम सर्वप्रथम है। इनके पश्चात् तासी, ग्राउस आदि विद्वानों ने कार्य किया। सर जार्ज ए. ग्रियर्सन के 'नोट्स ऑन तुलसीदास' बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। कवि की तिथि-गणना, कृतियां, जीवन-वृत्त आदि अनेक उपयोगी बातों पर प्रकाश डाला गया है। रानी कमलकुँवरि जी ने दोहे-चौपाइयों में तुलसीदास जी की जीवनी प्रस्तुत की। शिवसिंह सरोज में 'गोसाईं-

चरित्र' का उल्लेख करते हुए तुलसी के जीवन, कृतियों आदि पर प्रकाश डाला। इसमें ४९ काण्ड रामायण की भी चर्चा है। बैजनाथदास कुरमी ने अपनी टीका करते समय तुलसीदास जी की जीवन-संबंधी घटनाओं को पद्यबद्ध किया। इनके अतिरिक्त भागवतदास खत्री, पं. सुधाकर द्विवेदी, लाला सीताराम, मिश्रबंधु आदि की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। इटालियन विद्वान् टेसीटरी ने 'मानस' की तुलना वाल्मीकिकृत 'रामायण' से की है। बा० इन्द्रदेव नारायण ने सर्वप्रथम 'तुलसी-चरित' के सम्बन्ध में लिखा। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' (तीन खंडों में) एक स्तुत्य प्रयत्न है। इसका तीसरा खंड तो आलोचना की दृष्टि से अत्यधिक मूल्यवान् है। रामचन्द्र शुक्ल तथा श्याम-सुन्दरदास ने तुलसी-संबंधी अलग स्वतंत्र ग्रंथ भी प्रकाशित किये। सद्गुरु-शरण अवस्थी के 'चार दल', रामनरेश त्रिपाठी की 'भूमिका', लमगोड़ा जी के 'निबन्ध', विजयानन्द त्रिपाठी का 'खोजपूर्ण निबंध', कल्याण का 'मानसांक', डा. सूर्यकांत शास्त्री, डा. बलदेव मिश्र आदि के द्वारा बहुत-कुछ काम हुआ। डा. माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' नामक 'थीसिस' इस ओर एक प्रशंसनीय मौलिक प्रयत्न है।

अन्तःसाक्ष्य—उपरिलिखित वाह्य साक्ष्यों, आलोचनाओं, स्मारकों तथा अन्य लेखकों की पुस्तकों के अतिरिक्त स्वयं तुलसी के ग्रंथों से हमें कुछ अन्तःसाक्ष्य भी प्राप्त होता है। तुलसी के रचे हुए ग्रंथों में उनके जीवन की एक आभा अस्पष्ट रूप में प्राप्त होती है। इनके आधार पर उनके जीवन का एक धुंधला-सा चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके नाम से वैसे तो ४०-५० ग्रंथ प्रचलित हैं किन्तु १३ ग्रंथ प्रामाणिक माने जाते हैं। इनमें से—

१. रामचरितमानस
२. कवितावली (हनुमान वाहुक सहित)
३. विनयपत्रिका
४. दोहावली
५. बरवै रामायण

६. तुलसी-सतसई, और

७. पार्वती-मंगल आदि

से उनके जीवन की कुछ बातें ज्ञात होती हैं।

ऊपर दी गई सामग्री से कवि का जीवन-वृत्त बहुत-कुछ निर्मित किया जा सकता है किन्तु उसे हम सर्वथा प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं कह सकते।

कवि की जन्म-तिथि के संबंध में कई तिथियां हमारे सामने आती हैं। 'मूल गोसाई-चरित' की १५५४ (पन्द्रह सौ चौवन विषं....) विल्सन और तासी के प्रमाणों से १६००, शिवसिंह सेंगर की खोज द्वारा १५८३, ग्रियर्सन महोदय द्वारा लिखित १५८१ तथा तुलसी साहिब की लिखी १५८९। तुलसी साहिब ने 'भादौं सुदी ११ मंगलवार' का उल्लेख किया है। और सर्वत्र 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' को तुलसी का जन्म दिवस मनाया जाता है, जिसका उल्लेख 'मूल गोसाईंचरित' में हुआ है। इस चरित में जन्म संवत् १५५४ है जिसके अनुसार कवि की अवस्था १२६ वर्ष की निकलती है। बा. श्यामसुन्दरदास जी का कहना था कि एक संयमी महात्मा के लिए इतनी लम्बी आयु का होना कोई असंभव बात नहीं। किन्तु विद्वानों ने बहुत-सी बातों पर विचार कर १५८९ को जन्म संवत् माना है, यद्यपि बाबा बेनी-माधवदास की तिथि को भी बहुत लोग मानते हैं।

कवि के जन्म-स्थान के संबंध में भी अनेक मतभेद हैं। कवि के अन्तः-साक्ष्य में ऐसी कोई बात नहीं जिससे इस बात पर प्रकाश पड़े, बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही इसका निश्चय करने की चेष्टा की जाती है। विल्सन और तासी ने जन्मस्थान के संबंध में चित्रकूट के निकट हाजीपुर का उल्लेख किया था। उनके निश्चय का आधार केवल जनश्रुति ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त दो अन्य स्थानों पर विद्वानों ने बहुत-कुछ विचार किया है। राजापुर और सोरों दोनों स्थानों के संबंध में अनेक प्रमाण दिये गये हैं। ठा. शिवसिंह सेंगर, पं. रामगुलाम द्विवेदी, संत तुलसी साहिब तथा अनेक जनश्रुतियों के आधार पर राजापुर को तुलसी का जन्म-स्थान माना जाता

है। इस स्थान के प्रमाण में कुछ मुआफ़ी के कागज भी मिले हैं। सोरों के पक्ष में वहां की उपलब्ध बहुत-सी सामग्री है तथा 'वार्ता' में लिखी हुई बातें। गोस्वामी जी की शैली, विषय-वर्णन आदि से इन्हें सोरों का होना सिद्ध किया गया है। 'सूकर खेत' अथवा सोरों भी इस पक्ष की पुष्टि करता है। इन दोनों पक्षों का बहुत-कुछ विवेचन हुआ है। और ऐसा विदित होता है कि राजापुर तथा सोरों दोनों स्थानों से कवि का बहुत-कुछ सम्पर्क रहा। 'तुलसी-चरित' में इनका स्थान 'कसिया' लिखा गया है।

यद्यपि तुलसीदास ने 'मेरे जाति पांति ना...' आदि लिखा है परन्तु यह बात निर्विवाद है कि वे उच्चकुलीन ब्राह्मण थे। कौन ब्राह्मण थे इसके अनेक मतभेद हैं। 'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को' से सोरों के समर्थक तुलसीदास जी को 'सनाढ्य' ब्राह्मण तथा 'शुक्ल' गोत्र का बताते हैं। सुधाकार द्विवेदी तथा जार्ज ग्रियर्सन ने इनको 'सरयूपारीण' ब्राह्मण माना है। राजापुर के पक्ष वाले इन्हें 'कान्यकुब्ज' ब्राह्मण कहते हैं। भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने विनय-पत्रिका की एक पंक्ति* के आधार पर 'वाजपेयी' कान्यकुब्ज कहा है। इनका सनाढ्य अथवा कान्यकुब्ज होना इनके जन्म-स्थान पर भी बहुत-कुछ निर्भर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बाबाजी शरीर से उच्चकुलीन ब्राह्मण थे और बाद में जाति-पांति की कुछ परवाह नहीं करते थे।

प्रश्न होता है तुलसी को उनके मां-बाप ने क्यों छोड़ दिया था। कुछ लोग कहते हैं वे पाप की संतान थे†। कुछ लेखक कहते हैं कि वे अभुक्त-मूल में पैदा हुए थे अतएव इन्हें छोड़ दिया गया। ऐसा भी कहा जाता है कि शिशु तुलसी के पैदा होते ही मां का स्वर्गवास हो गया, और कुछ दिन बाद पिता का भी। फिर इनका पालन-पोषण मुनिया नामक दासी ने किया। वह भी मर गई। बहुत समय तक ये यों ही घूमते रहे और तब इन्हें गुरु की उपलब्धि हुई।

---

* "कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी।"

† "बधावनो बजायो मुनि पाप परिताप भयो जननी जनक को।"

तुलसीदास जी के गुरु के सम्बन्ध में निम्न दोहा अति प्रसिद्ध है—

बंदौं गुरुपद कंज, कृपासिंघु नररूप हरि ।‡
महामोह-तमपुंज, जासु बचन रवि कर निकर ॥

इसके आधार तथा अन्य प्रमाणों से कवि के गुरु का नाम नरहरिदास, नरसिंह, नरहरि, नरहर्यानन्द आदि कहा जाता है। सोरों में 'नरसिंह' का एक मन्दिर भी है और कहा जाता है इनके गुरु का नाम नरसिंह चौधरी था। नरहरिदास रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा के थे। तुलसी-चरित में गुरु का नाम 'रामदास' लिखा है* अधिक विद्वान् गुरु का नाम 'नरसिंह' अथवा 'नरसिंहदास' ही मानते हैं। ये रामानन्द की आठवीं शिष्य-परम्परा में थे।

इसमें सन्देह नहीं है कि तुलसीदास जी का विवाह हुआ था। स्त्री का नाम कुछ लोग बुद्धिमती तथा अन्य रत्नावली बताते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन्हें स्त्री के उपदेश से ही विरक्ति हुई। सोरों पक्ष वाले उनकी ससुराल का स्थान बदरिया गांव बताते हैं। कुछ लोग कहते हैं इनके तीन विवाह हुए थे। विरक्ति का कारण स्त्री का कहा हुआ निम्न वचन बताया जाता है :—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ ॥
अस्थि-चर्ममय देह मम ता में जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति ॥

घर छोड़ने के पश्चात् जब एक बार लौटे, जिस ओर दोहावली का यह दोहा संकेत देता है—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग ।
कै खरिया मोहिं मेलि कै विमल बिबेक बिराग ॥

विनयपत्रिका के इस कथन को मान्यता नहीं दी जाती—"ब्याहन

‡ 'हर' भी पाठ है।
* 'तब गुरु रामदास पहिचानी'

बरेखी . . . ."

अंत:साक्ष्य के आधार पर इनका बचपन का नाम 'रामबोला' बताया जाता है—"राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम"; "रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि को" किन्तु डाक्टर गुप्त इसे आध्यात्मिक नाम बताते हैं। उनका मूल नाम संभवतः 'तुलसी' ही था। 'दास' पीछे जोड़ दिया गया होगा, 'नाम तुलसी पै भोंड़े भाग सो कहायो दास'। वैराग्य के उपरान्त नाम में 'दास' लग गया होगा। तुलसी-चरित के अनुसार इनका नाम "तुलाराम" था किन्तु तुलसी-चरित की वास्तविक पंक्ति इनका नाम 'तुलसी' तथा 'तुलाराम' दोनों बताती है—"तुलसी तुलाराम मम नाम"। अतएव इनका नाम 'तुलसी' निश्चयपूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। दीक्षित होने पर ये 'तुलसीदास' हो गये। प्रसिद्धि पाने पर इन्हें 'गोसाईं' उपाधि मिली—

'तुलसी गोसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो'

और ये गोसाईं तुलसीदास हो गये। गोसाईं शब्द से ही 'गोस्वामी' बना।

गोसाईं जी को जीवन में बहुत-कुछ संघर्ष करना पड़ा। बाल्यकाल से ही इनका जीवन संघर्षमय था—दरिद्र कुल में उत्पन्न होकर (जायो कुल मंगन........) शैशवावस्था में ही माता-पिता से वंचित हो जाना, जगह-जगह के टुकड़े खाना और इधर-उधर भटकना। इसके अतिरिक्त जीवन में इन्हें कई अन्य विरोधों का सामना करना पड़ा; जैसे (१) जाति-पांति का प्रश्न लेकर, (२) रामचरित को भाषा में लिखकर, (३) काशी के शिवोपासकों को अप्रसन्न कर। इन सभी बातों पर गोस्वामी जी ने विजय पाई। इनके अन्तिम दिन शारीरिक पीड़ा से विरोधी बन गये थे। कई बार पीड़ा हुई, प्लेग का प्रकोप भी हुआ, किन्तु राम की कृपा से इन्हें पीड़ाओं से मुक्ति मिलती रही। कवि की ख्याति कवि के जीवन में ही बहुत फैल गई थी—उन्हें वाल्मीकि का अवतार माना जाने लगा था जिसका स्पष्ट उल्लेख भक्तमाल के १२९ वें छप्पय में है। शंकर-

मतानुयायी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वती उनके घनिष्ठ मित्र बन गये थे। उन्होंने प्रशस्ति में यह श्लोक लिखा—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कवितामंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता॥

अपने समय में गोस्वामी जी बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये थे। बड़े-बड़े लोगों से उनका स्नेह था। कहा जाता है टोडर नाम के एक बड़े जमींदार इनके घनिष्ठ मित्र थे। टोडर के मरने पर जब उनके पुत्र-पौत्र में झगड़ा हुआ तो गोस्वामी जी को पंच बनाया गया। यह पंचनामा अब भी काशी-राज के पास है। कहा जाता है रहीम (अबुर्रहीम खानखाना) से भी तुलसीदास जी का स्नेह था। अजमेर के महाराज मानसिंह उनके पास प्रायः जाते थे। अत्याचार से प्रपीड़ित होकर मीरावाई ने भी उनका परामर्श मांगा था। संत-महात्माओं से तो आपका नित्य सम्पर्क रहता था।

इनकी मृत्यु संवत् १६८० में हुई—यह वात निर्विवाद है। जनश्रुति कहती है कि काशी में असीघाट पर कवि की मृत्यु हुई—

संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे सरीर॥

किन्तु 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर अब यह निधन-तिथि मान्य है :—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे सरीर॥

और इसी दिन टोडर (कवि के मित्र) के वंशज तुलसी के नाम पर सीधा देते हैं।

कृतियां—

विशेषज्ञों द्वारा निम्न तेरह कृतियां तुलसीदास जी द्वारा लिखित स्वीकार की गई हैं:—(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य-संदीपिनी, (३) रामाज्ञाप्रश्न, (४) जानकी-मंगल, (५) रामचरितमानस, (६) तुलसी-सतसई, (७) पार्वतीमंगल, (८) गीतावली, (९) विनय-

पत्रिका, (१०) कृष्णगीतावली, (११) बरवै, (१२) दोहावली, (१३) कवितावली (हनुमान् बाहुक सहित)

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'सतसई' को स्वीकार न करते हुए बारह ग्रन्थ ही माने हैं। उनका कहना है कि इसमें १५० दोहे तो दोहावली के हैं, और अनेक पंडितों ने इसे तुलसी के ग्रन्थों में नहीं गिनाया है। पं० सुधाकर द्विवेदी का कहना था कि यद्यपि इसमें बहुत-से दोहे गोसाईं जी के हैं तथापि यह किसी तुलसी नामक कायस्थ कवि का बनाया ग्रन्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक संग्रह-ग्रन्थ है और संभवतः कवि के किसी भक्त ने कुछ अपने दोहों के साथ इसे प्रस्तुत कर दिया हो।

कृतियों का परिचय—काल-क्रम के सम्बन्ध में बहुत-कुछ मतभेद हैं। यहां डा. माताप्रसाद द्वारा स्वीकृत क्रम के अनुसार परिचय दिया जा रहा है।

(१) रामलला नहछू—यह बीस छंदों की तुलसीदास जी की सबसे छोटी रचना है। इसमें एक उपसंस्कार का वर्णन है जो यज्ञोपवीत और विवाह दोनों संस्कारों के साथ होता है। पंडित रामगुलाम के मतानुसार यह नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है, और त्रिपाठी जी का कहना है कि यह विवाह के समय का है। अवस्थी जी इसे 'श्रीरामचन्द्र जी के यज्ञोपवीतोत्सव के पहले होने वाले नहछू के उत्सव को लक्ष्य करते हुए लिखा हुआ मानते हैं। इसमें प्रयुक्त छंद 'सोहर' है जो नारी-समाज में मांगलिक अवसरों पर गाने के लिए प्रचलित है। रामलला नहछू में युवती और चटकीली-मटकीली स्त्रियों के बन-ठन कर आने का बड़ा शृंगारिक वर्णन है।

इस ग्रन्थ का रचना-काल 'तुलसी के चार दल' में संवत् १६१६ माना गया है और इसे गीतावली तथा कृष्ण-गीतावली का पूर्ववर्ती कहा गया है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि यह एक प्रारम्भिक रचना है और युवावस्था की रसिकता की द्योतक है। श्यामसुन्दरदास जी ने इसे सं० १६४० के आसपास रखा है। डाक्टर रामकुमार भी इसे 'काव्य-जीवन

के प्रभात' की रचना मानते हैं। डाक्टर गुप्त ने इसे सं० १६११ की रचना माना है। कुछ भी हो यह प्रारम्भिक रचना अवश्य है जिसमें कवि के युवा हृदय की स्पष्ट छाप है।

(२) वैराग्य-संदीपिनी—यह चौपाइयाँ, दोहे और सोरठे मिलाकर कुल ६२ छन्दों की पुस्तिका है। इसमें ३ प्रकाश हैं :—

१. संत-स्वभाव-वर्णन, ३३ छन्द

२. संत-महिमा का वर्णन, ९ छन्द

३. शांति-वर्णन, २० छन्द

इन छन्दों में ४६ दोहे २ सोरठे तथा १४ चौपाइयां हैं।

यह उस समय की रचना प्रतीत होती है जब तुलसीदास जी का झुकाव संत-मत की ओर था। हो सकता है, विरक्त होने के समय ही इसकी रचना की गई हो। इसकी शैली से भी यही प्रतीत होता है कि यह प्रारम्भिक रचना है। त्रिपाठी जी तो इसे सर्वप्रथम रचना मानते हैं। इसका काल संवत् १६१४–१५ रहा होगा ऐसा अनुमान है। इस पुस्तक का वर्ण्य विषय, शैली आदि सभी इसी ओर संकेत करते हैं।

१. जहां सांति सतगुरु की दई।
तहां क्रोध की जर जरि गई॥ (कबीर के "सत्गुरु")

२. रैन को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञानु॥ (ज्ञान की महानता)

३. तुलसी वेद पुरान मत, पूरन सास्त्र विचार।
यह वैराग्य-संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥ (आरम्भिक गर्वोक्ति)

(३) रामाज्ञा-प्रश्न—इसमें सात सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में सात-सात दोहों के सात सप्तक हैं। ग्रन्थारंभ के दो दोहे मिलाकर कुल संख्या ३४५ होती है। ऐसा कहा जाता है कि छः घंटे लगातार परिश्रम कर तुलसीदास जी ने यह ग्रन्थ तैयार कर दिया। आधुनिक विद्वानों का अनुमान है कि छः घंटे में प्रस्तुत की जाने वाली पुस्तिका "रामशलाका" थी जो इससे भिन्न है। रामशलाका मानस के अनेक संस्करणों में देखने को मिलती

हैं और यह रामाज्ञा-प्रश्न से सम्बन्धित है। इसके द्वारा प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं जो शलाका की ९ चौपाइयों (अर्द्धालियों) में सीमित हैं। इसकी रचना का समय कवि स्वयं इस प्रकार देता हुआ दिखाई पड़ता है—

सगुन सत्य ससि[1] नयन[2] गुन[3] अवधि-अधिक नय[4] बान[5]।*
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीत प्रमान ॥†

कवि-प्रथा के अनुसार इससे १६२१ तिथि प्राप्त होती है। अन्य प्रमाणों के आधार पर भी यह कृति १६२० के आसपास की है। श्यामसुन्दरदास जी ने इसे १६५५ की रचना बताया था, किन्तु वह अनुमान ठीक नहीं। कहा जाता है कि यह कृति अपने मित्र गंगाराम जोशी के लिए बनाई थी—

सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर, गोगन "गंगाराम"॥

(४) जानकी-मंगल—इसमें श्रीसीताराम-विवाह-वर्णन है। १९२ सोहर छंद हैं और २४ हरिगोतिका छंद हैं। प्रत्येक आठ सोहर छन्दों के पश्चात् १ हरिगोतिका छन्द का क्रम अन्त तक निभाया गया है। इसकी रचना बाल्मीकि-रामायण के आधार पर हुई प्रतीत होती है। परशुराम का आगमन विवाहोपरांत विदाई के बाद दिखाया गया है। निश्चय ही यह रचना 'मानस' से पूर्व की है। "कविता में शैथिल्य का कहीं भी दर्शन नहीं होता। भाषा और भाव दोनों में कवि ने अपना मस्तिष्क ढाल दिया है।"

लसत ललित कर कमलमाल पहिरावत।
काम फंद जनु चंदहि वनज फँदावत॥
बर बिराज मण्डप महँ बिरच विमोहइ।
ऋतु बसन्त बन मध्य मदन जनु सोहइ॥

इसकी कथा 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कथा के समान तथा 'मानस' से भिन्न

---

* नय और बान अर्थात ४ और ५ का अंतर एक होता है। संवत् हुआ १६२१।

† डा० गुप्त का लगाया अर्थ।

है; जैसे (१) रामसीता का पुष्प-वाटिका में न मिलना, (२) लक्ष्मण-परशुराम-संवाद न होना, (३) सतानंद द्वारा विवाह-निमंत्रण जाना और (४) परशुराम का बरात जाते समय आना। इससे यह १६२१ और १६३१ के बीच की रचना हुई। डा० दास तथा डा० वर्मा का १६४३ की रचना मानना उचित प्रतीत नहीं होता। त्रिपाठी इसे १६२४ की रचना मानते हैं और डा० गुप्त १६२७ की। इनका कहना है कि बहिरंग-साम्य से ही जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल को समकालीन मानना युक्ति-युक्त नहीं।

(५) रामचरितमानस—'मानस' जगत्-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा वृहत्काय रचना है। इस महाकाव्य ने गोस्वामी जी को सदा के लिए अमर कर दिया। अकेले गीता प्रेस गोरखपुर से ही 'मानस' के इतने संस्करण और उन संस्करणों में इतनी अगणित प्रतियां निकली हैं कि इस ग्रन्थ की लोक-प्रियता का सहज अनुमान हो जाता है। इसकी लोकप्रियता हिन्दी-प्रान्तों में ही सीमित नहीं, इस ग्रन्थ-रत्न के संस्कृत, उड़िया, बंगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। 'मानस' की बीसियों टीकाएँ हो चुकी हैं। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से यह अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य है। यद्यपि मूल आधार वाल्मीकि-रामायण ही है किन्तु अध्यात्मरामायण, काकभुसुंडि-रामायण आदि के प्रमाण पर कुछ उलट-फेर किये गये हैं। इस ग्रन्थ में जीवन के सम्पूर्ण स्थल सुन्दर रूप में चित्रित हुए हैं। इसे जनसाधारण के लिए नीति का कोष समझिए। हिन्दू-जीवन का तो मानस अभिन्न अंग है। प्रस्तावना से लेकर समाप्ति तक सम्पूर्ण ग्रन्थ चमत्कारयुक्त सुन्दर कृति है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत सामग्री उपलब्ध है।

'मानस' के पाठ-शोधन का यथेष्ट कार्य किया गया है। आजकल प्रायः 'गीता-प्रेस' का पाठ ही सुलभ होने के कारण चलता है। कई प्राचीन प्रतियां भी मिली हैं। (१) अयोध्या की प्रति उनके जीवन-काल में ही

लिखी गई थी। संभवतः इसका संशोधन तुलसीदास जी के द्वारा हुआ हो। (२) दूसरी प्रति मसीहाबाद में है। यह तुलसीदास जी के हाथ की लिखी बताई जाती है। (३) राजापुर में अयोध्याकांड की जो हस्तलिखित प्रति है वह भी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी बताई जाती है। विद्वानों द्वारा की गई खोज में भी कई प्रतियां मिली हैं। पं० शंभुनारायण चौबे तथा रायकृष्णदास जी को दो प्रतियां समग्र ग्रंथ की प्राचीन लिखी हुई प्राप्त हुई हैं। तुलसी-ग्रन्थावली में 'मानस' का सम्पादन १७०४ की प्राप्त प्रति के अनुसार हुआ है जो समस्त ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रति है।

कुछ विद्वानों ने 'मानस' के क्रम पर भी आपत्ति उठाई है। उनका कहना है कि तुलसीदास जी ने अयोध्याकाण्ड से आरम्भ कर लंकाकाण्ड तक पहले कथा लिखी। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड पीछे जोड़े गये। क्षेपक तो लगभग सब दूर हो चुके हैं। इसका रचना-काल कवि ने स्वयं ही स्पष्ट किया है :—

संवत् सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

(६) सतसई—तुलसीसतसई अथवा रामसतसई में ७४७ दोहे हैं। सतसई में सात सर्ग हैं। इसकी भाषा प्रौढ़ नहीं है। स्थान-स्थान पर दुरूह दृष्टिकूट भी हैं। संभवतः इसके दोहे 'मानस' की रचना के पहले के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत-से दोहे मनोरंजन की दृष्टि से लिखे गये हैं। एक दोहा देखिए—

हंस कमल बिच बरन जुग, तुलसी अतिप्रिय जाहि।
तीन लोक महँ जो भजै, लहै तासु फल ताहि॥

"हंस अर्थात् 'मराल' के बीच का अक्षर 'रा' और 'कमल' के बीच का अक्षर 'म' अर्थात् 'राम' को जो भजेगा इत्यादि.......।" एक दोहा और—

चतुराई चूल्हे परैं, जम गहि ज्ञानहि खाय।
तुलसी प्रेम न रामपद, सब जर मूल नसाय॥

इसमें बहुत से दोहे दोहावली के हैं। कुछ दोहे 'मानस' में भी मिलते हैं। रचना-काल स्वयं कवि ने दे दिया है :—

अहि-रसना[२] थन धेनु[४] रस[६], गनपति द्विज[१] गुरुवार ।
माधव सित सिय जनमतिथि सतसैया अवतार ।।

इसके अनुसार सतसई की तिथि वैशाख शुक्ला ९, सं० १६४२ है। इस तिथि को सुधाकर द्विवेदी नहीं मानते—वे तो इसे कायस्थ तुलसी की रचना मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संग्रह ग्रन्थ तुलसी के किसी भक्त ने प्रस्तुत किया।

(७) पार्वती-मंगल—इस ग्रन्थ में शिव-पार्वती-विवाह-वर्णन है। इसमें १४८ तुक सोहर छंद के हैं और १६ अन्य छंद के हैं। छंदों का रूप बहुत ही व्यवस्थित है, उनका एक भी शब्द स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। पार्वती-मंगल और मानस के कथानक में भी अंतर है। मानस में जैसा काम-दहन का लम्बा वर्णन है, पार्वती-मंगल में वैसा नहीं। पार्वती-मंगल में शिव ने बहुत सुन्दर वेष बना लिया था। विवाह की अनेक रसमों का भी वर्णन है। जैसे—

दूलह दूलहिन गे तब हास अवासहिं ।
जुवा खिलावत गारि देहिं गिरिनारिहिं ।।

'साखोच्चार', 'पहिरावनि' आदि के वर्णन भी हैं। भाषा, भाव, छन्द प्रभाव की दृष्टि से यह छोटा-सा काव्य सर्वांग सुन्दर है तथा पूरबी अवधी में रचा गया है। पार्वती-मंगल की रचना कवि ने 'जय' नामक संवत् में की है। 'जय' बार्हस्पत्य वर्ष-प्रणाली का एक वर्ष है। इसे उत्तरी और दक्षिणी दो प्रणालियों से गिना जाता है। गणना के अनुसार 'जय' वर्ष सं० १६४२ में प्रारम्भ होकर सन् १६४३ में समाप्त होता है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने भी १६४३ माना है। छन्द इस प्रकार है—

जय संवत फागुन सुदि पांचै गुरुदिन ।
अस्विनी विरचेऊँ मंगल सुनि सुख छिनुछिन ।।

इससे रचना-काल फाल्गुन सुदी ५ गुरुवार, अश्विनी नक्षत्र,

सं० १६४३ होता है।

(८) गीतावली—गीतावली तुलसीदास के स्फुट गीतों का संग्रह है। यह भी मानस की तरह सात काण्डों में विभक्त है। इसकी पद-संख्या ३२८ है, जिसमें बालकाण्ड के १०८ पद हैं। इसके दो संस्करण कवि के जीवन-काल में ही हुए—'पदावली-रामायण' तथा 'गीतावली'। 'पदावली' को गीतावली का रूप कब मिला यह कहना कठिन है। वैसे इसकी कविता बहुत ललित है, और भाव की दृष्टि से तो अभूतपूर्व है—

(१) जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजी की ललित पनहियाँ॥

(२) राम हौं कौन जतन घर रहिहौं।
बार बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं॥

(३) भैया भरत भावते के संग सब पुर लोग सिधारो।
हम पंख पाय पींजरन तरसत अधिक अभाग हमारो॥
(सुक तें गहबर हिय कह सारो।)

(४) राघौ एक बार फिरि आवो।
यह बर बाजि बिलोकि आपने बहुरे बनै सिधावो॥

स्वर और लय को मधुर बनानेवाले शब्दों के सहयोग से अमृत-वर्षा हुई है। डा० श्यामसुन्दरदास ने इसका रचनाकाल १६१६–२८ माना है। त्रिपाठीजी ने भी इसे मानस से पहले की रचना बताया है। डा० वर्मा इसे १६४३ की रचना मानते हैं। माताप्रसाद जी का कहना है कि यह १६५३ की रचना है क्योंकि यह पदावली रामायण का रूपान्तर है जो मानस के २० वर्ष बाद लिखा गया होगा। वैसे गीतावली एक संग्रह-ग्रन्थ है जिसका रचना-काल अनेक वर्षों में फैला होगा।

(९) विनयपत्रिका—इसका स्थान 'मानस' के उपरान्त माना जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें २७९ पद हैं। इसमें अनेक राग-रागनियां हैं। विनय में कवि ने मानव-जीवन के कल्याण की ओर ध्यान रखा है। यह पुस्तक एक पत्रिका के रूप में है जो राम के सम्मुख

हनुमान् जी के द्वारा प्रस्तुत कराई गई है और कहा गया है—

'विनय पत्रिका दीन की बापु आपु ही बाँचो ।'

सीता जी से भी सिफारिश की प्रार्थना की गई है—

'मेरी उ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ।'

और इस पत्रिका पर राम की सही भी हो गई है—

बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है ।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है ॥

इसमें मर्यादा का पूर्ण पालन किया गया है । कवि का पांडित्य, शब्द-भाण्डार, वाक्य-चातुर्य, उक्ति-वैचित्र्य सभी कुछ देखने को मिलता है ।

पं० रामनरेश इसे कवि का अन्तिम ग्रन्थ बताते हैं । मूल गोसाइं-चरित के आधार पर इसका समय १६३६ से १६३९ है । कुछ विद्वान् इसे १६६६ की रचना कहते हैं । डा० गुप्त ने इसे गीतावली के साथ की रचना कहा है । वैसे यह भी एक संग्रह-ग्रन्थ है और लिखने में अनेक वर्ष लगे होंगे ।

(१०) कृष्ण-गीतावली—भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में श्रीकृष्ण के चरित-संबंधी ६१ पद हैं । भाषा शुद्ध ब्रज है । संभव है इसका निर्माण ब्रज में ही किया गया हो । इसमें कवि की इच्छानुसार किसी-किसी लीला का वर्णन है । अनेक पद 'सूरसागर' के हैं । वल्लभ-कुल के गोसाइयों से सम्पर्क होने के कारण यह गीतावली लिखी गई होगी । बहुत से विद्वानों ने इसे गीतावली के साथ ही माना है और वही रचनाकाल रखा है । 'तुलसीदास और उनकी कविता' में इसका समय १६२८—३० दिया गया है । कलापक्ष का ध्यान करते हुए डा० गुप्त इसे गीतावली से भी आगे सं० १६५८ की रचना मानते हैं ।

(११) बरवै—बरवा नाम के छोटे छंद में ७ काण्डों सहित ६९ छंद की यह छोटी-सी पुस्तक है । बालकाण्ड में १९ और उत्तरकाण्ड में २७ छंद हैं । बरवै का आविष्कार रहीम द्वारा हुआ था । इसका आरम्भ इस छन्द से हुआ—

प्रेम प्रीति कौ बिरवा चलेहु लगाय ।
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाय ॥

यह मधुर रस से परिपूरित है—

का घूंघट मुख मूंदहु नवला नारि ?
चांद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ।
उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ।
सिय रघुवर के भये उनींदे नैन ॥

डा० माताप्रसाद इसे बहुत पीछे की रचना मानते हैं—

भरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम ।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥

इसे एक संग्रह-ग्रन्थ मानना चाहिए क्योंकि इसमें सभी अवस्थाओं के छंद हैं। कुछ लोग इसका काल सं० १६१० से १६४० तक मानते हैं।

(१२) दोहावली—इस संग्रह में ५७३ दोहे हैं। रामचरितमानस के ८५, रामाज्ञा-प्रश्न के ३५, सतसई के १३२, वैराग्य-संदीपिनी के ७ तथा अन्य दोहों को मिलाकर यह संग्रह बनता है। इसका काफ़ी प्रचार है। इसमें नाम-माहात्म्य, ज्ञान, राजनीति, विशुद्ध प्रेम, कलियुग-दशा आदि का वर्णन है। अनेक दोहे गूढ़ आशय के भी हैं। दोहावली का रचना-काल बहुत लम्बा विदित होता है। संभवतः उनके सम्पूर्ण काव्यकाल के दोहे इसमें संगृहीत हों। रामनरेश जी ने तो रचना-काल १६१० से १६७१ तक का दिया है। बेनीमाधवदास की कृति के आधार पर रचना-काल सं० १६४० माना जाता है, किन्तु अधिकतर विद्वानों का निष्कर्ष यही है कि इसका संग्रह तुलसी के अन्तिम दिनों तक हुआ।

(१३) कवितावली और बाहुक—यह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सभी रसों का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसमें हनुमान् बाहुक सहित ३६९ छंद हैं जिनमें उत्तरकाण्ड २२७ छंदों का है। इस ग्रन्थ से तुलसी-दास जी की जीवनी पर प्रकाश पड़ता है तथा उस समय की परिस्थिति का भी परिज्ञान होता है। यह एक संग्रह-ग्रन्थ है और काण्ड-विभाग तो बाद में हुआ होगा। कुछ छंद उनकी छात्रावस्था के भी विदित होते हैं—

'अति कोप सों रोप्यो है पांव सभा, सब लंक ससंकित सोर मचा।'

साथ ही हनुमान्-बाहुक के छंद उनकी अन्तिम बीमारी तक का संकेत करते हैं, अतएव इसकी रचना सं० १६८० तक हुई। इसे कुछ लोग कवित्त-रामायण भी कहते हैं। इसकी भाषा ब्रज है। 'क्षेमकरी' वाला सवैया तुलसी के अन्तिम दिन का माना जाता है और यही तुलसी के इस ग्रन्थ का समय १६८० निश्चित करता है।

कालक्रम के अनुसार डा० गुप्त ने कृतियों को चार समूहों में विभाजित किया है :—

(१) आरंभिक (१६११-२५) रामलला, वैराग्य-संदीपिनी, रामाज्ञा-प्रश्न
(२) मध्यकालीन (१६२६-४५) जानकीमंगल, मानस, सतसई, पार्वतीमंगल
(३) उत्तरकालीन (१६४६-६०) गीतावली, विनयपत्रिका, कृष्ण-गीतावली
(४) अंतिम और अपूर्ण (१६६१-७०) बरवै, दोहावली, कवित्तावली

विचारधारा—

तुलसीदास जी के ग्रन्थों पर दृष्टि डालने से उनके विचारों का बोध होता है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वे राम के परम भक्त थे और अपने ग्रन्थों में उनके द्वारा इसी भक्ति का प्रतिपादन हुआ है। 'मानस' में तुलसीदास जी ने अपने विचारों को "नानापुराण-निगमागम-सम्मत" बताया है। 'विनय-पत्रिका' में भी उनके दार्शनिक विचारों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त वैराग्य-संदीपिनी, सतसई, कवित्तावली, बरवै, दोहावली आदि ग्रन्थों से उनके आध्यात्मिक विचारों पर प्रकाश पड़ता है। उस समय की धार्मिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि देश में अनेक दार्शनिक पद्धतियाँ तथा मत प्रचलित थे और गोस्वामी जी का अनेक संत-महात्माओं से सम्पर्क होता था। देश में प्रचलित सभी विचारधाराओं पर वाद-विवाद होते होंगे। गोस्वामी जी ने पर्यटन भी खूब किया था और सभी प्रकार के विचारों से उनका परिचय हुआ होगा। नये-नये संप्रदायों की खींचातानी उन्हें पसन्द नहीं थी। अशिष्ट सम्प्रदायों का औद्धत्य गोस्वामी जी नहीं देख सकते थे। इसी कारण कर्मनिष्ठों से भी उन्हें चिढ़-सी थी—

'कर्मठ कठभलिया कहें ज्ञानी ज्ञान-विहीन।'

कुछ विद्वानों का मत है कि अद्वैतवाद अथवा विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तों में उनकी श्रद्धा थी। किन्तु उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से हम किसी विशेष 'वाद' में उन्हें सम्मिलित नहीं कर सकते। इस प्रश्न पर विशद विवेचन करते हुए उनके सिद्धान्त-समूह को 'तुलसी-मत' भी कहा गया है। खैर, कोई भी मत हो उसका निरूपण करना आवश्यक हो जाता है।

'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' के आधार पर 'अध्यात्म-रामायण' के दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए डा० माताप्रसाद ने उनके सिद्धान्त-निरूपण का प्रयास किया है और उनका कहना है, "हम यह देखते हैं कि अध्यात्म-रामायण के सिद्धान्त हमें यदि समस्त विस्तार के साथ नहीं तो मुख्यतः दोनों (मानस और विनय-पत्रिका) में से किसी-न-किसी में या दोनों में ही मिल जाते हैं। इसलिए हमें यह मानना पड़ेगा कि कवि के आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर 'अध्यात्म-रामायण' का ही प्रभाव है, यह दूसरी बात है कि स्वतः 'अध्यात्म-रामायण' किसी सम्प्रदाय विशेष का मुख्य ग्रन्थ है।"

तुलसीदास जी का कहना है—"राम परब्रह्म हैं, वे निर्गुण, ज्ञान-स्वरूप और अनादि हैं। अपनी माया के द्वारा निर्गुण से सगुण हो जाते हैं और इसी से अवतार धारण करते हैं जिससे पृथ्वी का भार हलका हो और लीलाओं द्वारा भक्तों का पथ-प्रदर्शन हो। राम विष्णु हैं। शिव तो उनके परम भक्त हैं, ब्रह्मा भी उनका ध्यान करते हैं। राम ही माया के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं। लक्ष्मण शेष का अंश हैं तथा सीता लक्ष्मी का। माया राम के अधीन है और एक बहुरूपिणी नर्तकी है जो राम से डरती रहती है। राम अपने अंश से समस्त लोकों की रचना करते हैं। जीव तथा परमात्मा पर्याय हैं, इनमें भेद-बुद्धि न करनी चाहिए। माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। इन्हीं के कारण जड़-चेतन में गांठ पड़ जाती है, जिसका छुड़ाना कठिन होता है। ज्ञान और भक्ति दोनों से यह गांठ खोली जा सकती है। भक्ति का मार्ग सरल है। राम की सगुण लीला से भ्रम में न पड़ना चाहिए। गुरुकृपा और सत्संग से सब-कुछ हो सकता है।"

अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय गोस्वामी जी ने लोकधर्म का सर्वदा ध्यान रखा। जन-समाज की स्थिति के लिए कर्म, ज्ञान और उपासना अति प्राचीन काल से चले आते थे। गोस्वामी जी ने इनमें साम्य स्थापित करने की चेष्टा की जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति, विद्या और बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें। देश में 'भक्ति' के अनेक विकृत रूप चल रहे थे, लोक-मर्यादा का उल्लंघन होता था, मिथ्या दंभ, आडम्बर, वेद-शास्त्र-निंदा आदि भी प्रचलित थे। गोस्वामी जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित्र द्वारा इन सभी प्रवृत्तियों को दूर किया। शैव और वैष्णवों के भेद को भी मिटाया, और सहिष्णुता ही नहीं पारस्परिक प्रेम की स्थापना की। इनका भाव अत्यन्त व्यापक था—मानव-जीवन के सब व्यापारों तक पहुंचनेवाला था। राम की लीला के भीतर जगत् के सारे व्यवहार और व्यापारों को ला दिया—और जनसाधारण के लिए एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिस पर चल कर वह अपना अभीष्ट प्राप्त कर सके। "भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ संमिश्रित करके बाबाजी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रान्ति न जान पड़े।" (शुक्ल)

तुलसी राम के परम भक्त थे। भक्ति-प्रचार ही उन्हें प्यारा था। उनके दार्शनिक विचारों में भक्ति का निरूपण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि रामभक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से कथा-श्रवण से तथा सत्संग के द्वारा प्राप्त होता है। भक्ति के लिए गुरु-कृपा और नाम का जाप आवश्यक है, शंकर-भजन भी आवश्यक है और साथ ही ब्राह्मणों की पूजा भी।

अनेक बातों पर विचार करने से विदित होता है कि तुलसी का मत व्यावहारिकता लिये हुए था। धर्म में प्रविष्ट बुराइयों को वे छांट-छांट कर निकालना चाहते थे। उन्हें न किसी से द्वेष था और न घृणा। वे तो जन-साधारण का वास्तविक भला करना चाहते थे। उन्होंने परिस्थितियों का ध्यान सर्वदा रखा है और उन्हीं के अनुसार धर्म की व्यवस्था की है।

साधु-धर्म से भी उनका कोई विरोध न था, किन्तु उच्छृंखलता उन्हें सहन न थी। वे सच्चे मर्यादावादी थे। संसार की बुराई-भलाई दोनों को अच्छी तरह समझते थे, मानस में उनके विचारों का पूर्णरूपेण दर्शन होता है। उन्होंने अपने सांसारिक अनुभव का काव्य में अच्छा प्रचार किया है। वैसे तो तुलसीदास रामानन्द के शिष्य-संप्रदाय में थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी इसी संप्रदाय में हुई थी परन्तु अपने अनुभव, स्वाध्याय, पर्यटन और सत्संग द्वारा धर्म का वास्तविक रूप समझा और उसे व्यवहार-क्षेत्र के उपयुक्त बनाया और मानवी कल्याण की ओर सदा ध्यान रखा।

तुलसी की कला——

तुलसी की कला का विश्लेषण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है——

(१) वस्तु-विन्यास (२) चरित्र-चित्रण (३) भाव-चित्रण——रसवर्णन (४) कल्पना-सृष्टि (५) अलंकार-विधान (६) उक्ति-वैचित्र्य (७) प्रकृति-वर्णन (८) लोक-कल्याण आदि।

(१) वस्तु-विन्यास——कथानक की दृष्टि से कवि ने 'अध्यात्म-रामायण' तथा 'वाल्मीकि-रामायण' की रूपरेखा का अनुगमन किया है। अधिक उलट-फेर नहीं किये हैं, किन्तु जहां भी ऐसा हुआ है कलात्मकता का ध्यान रखा गया है। पूर्वानुराग के लिए 'प्रसन्नराघव' का अनुकरण करते हुए राम-सीता-दर्शन विवाह से पहले कराया है और इसी के आधार पर 'मानस' में परशुराम को धनुर्भंग के साथ ही बुलाया गया है जिससे अनेक प्रकार के भावों की व्यंजना हो सकी है। इसी प्रकार निषाद का भरत से मोर्चा लेने की तैयारी करना, जनक का चित्रकूट पहुंचना, हनुमान् की लंका-यात्रा आदि मौलिक वर्णन कवि की कलात्मकता के साक्षी हैं। इसी प्रकार उत्तर-काण्ड में सीता-निर्वासन का कथानक बिल्कुल छोड़ दिया है क्योंकि वह मानस के आदर्श के प्रतिकूल है।

साथ ही कथावस्तु के विकास और वर्णन-विस्तार में भी असाधारण प्रतिभा और कला के दर्शन होते हैं। प्रत्येक प्रकार से कवि ने अपने कथानक

को विशद और सुन्दर बनाया है। 'मानस' की सबसे बड़ी विशेषता 'सम-विभक्तांग' होना है जो महाकाव्यों में प्रायः कम दिखाई पड़ती है। कहां, किस बात को कितना विस्तार दिया जाय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है।

(२) चरित्र-चित्रण—"रस-संचार-मात्र के लिए किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना काफ़ी होती है पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। 'मानस' में अनेक पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्तियों की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखा कर प्रत्यक्ष की है।" डा० माताप्रसाद का कहना है कि आधार-ग्रन्थों में कथानक के पात्र जिस आवेश, अविचार और अधीरता का परिचय देते हैं उन्हें उससे रहित कर देने में ही हमारे कवि की प्रमुख विशेषता दिखाई पड़ती है। तुलसीदास जी ने सात्त्विकी, राजसी और तामसी सभी प्रकार की वृत्तिवाले चरित्र उपस्थित किये हैं। जीवन की अनेक परिस्थितियों के बीच प्रत्येक पात्र के चरित्र की सार्थकता प्रमाणित की है। उनके चरितों में अनन्त शक्तिसम्पन्न, धीर, गंभीर और कोमल राम जैसे सात्त्विकी पात्र हैं; भरत जैसा पवित्र, निर्मल, सच्ची आत्म-ग्लानि-संयुक्त भाई; सेवक के सम्पूर्ण गुणों से परिपूरित हनुमान्; अन्तिम समय तक शत्रु को अति तुच्छ समझने वाला हठी रावण जैसा पराक्रमी; निर्भय, निश्चयनिष्ठ, उत्साही, सरल और निष्कपट लक्ष्मण; क्षमा और त्याग की मूर्ति, विशालहृदया, पतिसेवापरायणा कौशल्या जैसी आदर्श नारी; अटल स्वामीभक्तियुक्ता कुटिला मन्थरा जैसी दासी और सीता जैसी लज्जाशीला, विनयशीला, परम पतिव्रता कुलवधू हैं।

गोस्वामी जी ने अपने चरित्रों का चित्रण बहुत सावधानी और कोमलता से किया है। वे इस कार्य में व्यापक, उदार, विशाल और स्निग्ध हैं। उनकी नारी संबंधी भावना पर प्रायः टीका-टिप्पणियां होती हैं, किन्तु यह नारी-भर्त्सना नारी के मायामय रूप की है। उस काल के सभी सन्तों

की यही प्रवृत्ति थी।

(३) भाव-प्रकाशन—तुलसीदास जी को मर्मस्पर्शी स्थलों की अच्छी पहिचान थी और इनके वर्णन में कवि ने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। राम का आयोध्या-त्याग, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, लक्ष्मण-शक्ति, शबरी-आतिथ्य आदि प्रसंग इसके प्रमाण हैं। भावों और मनोवेगों के क्षेत्र में तुलसी का कौशल असाधारण रूप में प्रस्फुटित हुआ है। किसी एक भी प्रसंग को लीजिए, कवि की अलौकिक प्रतिभा से चकित रह जाना पड़ता है। चित्रकूट में भरत के पहुंचने पर भारतीय शिष्टता और सभ्यता का मनमोहक चित्र दिखाई पड़ता है। परिवार और समाज की ऊंची-नीची श्रेणियों के बीच कितने ही संबंधों का उत्कर्ष दिखाया गया है। राजा और प्रजा, बड़े और छोटे भाई, आचार्य के सम्मुख संकोच, माता के प्रति शुद्धता, विवाहित कन्या का व्यवहार, बड़ों के प्रति श्रद्धा, सास के प्रति सेवा, ब्राह्मण और राजवर्ग का पारस्परिक संबंध, भील और ऋषि का व्यवहार-सौष्ठव सभी प्रकरण सुन्दरता के साथ चित्रित हुए हैं। जीवन की प्रत्येक स्थिति का मर्मस्पर्शी साक्षात्कार करना कवि की विशेषता है।

कवि ने सभी स्थायी भावों को उपस्थित करने में सफलता प्राप्त की है। प्रेमभाव को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान कर अलौकिक और अनन्य बना दिया है। चातक और घन का प्रेम देखिए, दाम्पत्य प्रेम के विभिन्न रूपों का दर्शन कीजिए, मर्यादायुक्त शृंगारिकता पर भी दृष्टिपात कीजिए, वात्सल्य का आनन्द लीजिए, वियोग की हृदयद्रावक पद्धति को देखिए और शृंगार की सफलता समझिए। नहछू और बरवै की शृंगारिकता अपेक्षाकृत कुछ अमर्यादित प्रतीत होती है। शोक का चित्रण भी गोस्वामी जी ने अत्यन्त हृदयद्रावक पद्धति से किया है। लक्ष्मण की मूर्च्छा पर 'विषाद' की एक तीव्र और स्वाभाविक व्यंजना की गई है। हास्यरस का एक अच्छा छोटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है, गंगा पार करते समय केवट और राम का संवाद भी उच्च कोटि का है, अगंद-रावण संवाद में ध्वनियुक्त हास्य है। बीभत्स

रौद्र और वीर के अनेक उदाहरण लंकाकाण्ड में मिलते हैं। घृणा, क्रोध और उत्साह की सुन्दर व्यंजना स्थान-स्थान पर हुई है। आकस्मिक 'भय' भी लंका में ही 'दहन' के अवसर पर दिखाई देता है। पर्वत को लेकर आकाश-मार्ग में उड़ते हुए हनुमान् जी अद्भुत् रस का उदाहरण उपस्थित करते हैं। शान्त से तो सम्पूर्ण 'मानस' परिपूरित है ही। इनके अतिरिक्त काव्य-गृहीत तथा अन्य अनेक संचारियों के उदाहरण हैं। भाव और मनोवेगों के इन सुन्दर चित्रों में किसी प्रकार का प्रयास परिलक्षित नहीं होता। भावों की इतनी विभिन्नता, तीव्रता और वास्तविकता अन्यत्र कम ही देखने में आती है।

(४) कल्पना-सृष्टि—अपने हृदय के भावों को अधिक तीव्र बनाने के लिए कवि कल्पना का सहारा लेते हैं। गोस्वामी जी में भी यह प्रवृत्ति है। कहा गया है कि कल्पनाएँ कवि की अनेक प्रकार से सहायता करती हैं जैसे भाव-चित्रण में, घटना-चित्रण में, वस्तु-चित्रण में, ऊंची कल्पना के प्रदर्शन में तथा कार्य-व्यापार के प्रकाशन में। कवि द्वारा अंकित काल्पनिक चित्रों का निर्माण कलापूर्ण है। इन काल्पनिक चित्रों में कवि का किसी प्रकार का प्रयास मालूम ही नहीं होता और साथ ही इन चित्रों का रूप भी ऐसा अग्राह्य नहीं है जो मजाक-सा प्रतीत होता हो। कल्पना के प्रयोग में सहृदयता का ध्यान रखा गया है। कल्पना के द्वारा कवि हमारे सामने ऐसा चित्र उपस्थित करता है जो अस्वाभाविकता से दूर रहकर हमारे मनोवेगों को कहीं अधिक तीव्र बना देता है।

(५) अलंकार-विधान—कल्पना-सृष्टि के साथ ही अलंकार-विधान पर हमारी दृष्टि जाती है क्योंकि कल्पना का रूप प्रायः अलंकार में परिवर्तित होता है। गोस्वामी जी के अलंकारों में हमें रमणीयता मिलती है, शब्द-कौतुक नहीं। गुण तथा स्वभाव-चित्रण में कवि द्वारा प्रयुक्त तीन अलंकार विशेष उल्लेखनीय हैं—उत्प्रेक्षा, दृष्टांत और उदाहरण।

वस्तूत्प्रेक्षा— लसत मंजु मुनिमंडली मध्य सीय रघुचन्द।
ज्ञान-सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानन्द ॥

दृष्टांत—प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूमगिरि तृन सिर धरहीं ॥

उदाहरण— नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उदग बिलाई ।।

'उत्प्रेक्षा' ने भावों को तीव्र बनाने में भी सहायता दी है। साथ ही रूपक और उपमाओं ने भी अपना योग दिया है :—

उत्प्रेक्षा— आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ 'रोष' तरवारि उपारी।

रूपक— तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
वपुष-वारिद वरषि छवि-जल हरहु लोचन घास ।।

उपमा— जनक-बचन छूए बिरवा लजारू के से,
बीर रहे सकल सकुच सिर नाई कै ।।

घटना-चित्रण के क्षेत्र में कवि द्वारा प्रयुक्त 'रूपक' की ओर अधिक ध्यान जाता है। अपह्नुति अलंकार भी मिलता है। पुनः कार्य-व्यापार-चित्रण के लिए कवि उत्प्रेक्षा की ओर अधिक आकर्षित होता है, इसी के द्वारा वस्तु-चित्रण को भी तीव्र बनाया जाता है। कल्पना को ऊंचा बनाने में प्रतीप बहुत सहायता करता है :—

(१) प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देख सुख पावा ।।
(२) विष वारुनी बन्धु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि वैदेही ।।

गुण का अनुभव तीव्र करने में व्यतिरेक कैसा ठीक बैठा है :—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवै सु संत पुनीता ।।

स्मरण, भ्रम, काव्यलिंग, अतिशयोक्ति, पर्यायोक्ति, तुल्ययोगिता आदि के उदाहरण भरे पड़े हैं। उत्प्रेक्षा की ओर कवि की विशेष रुचि है। वैसे तो तुलसी का काव्य, केवल मानस ही, लगभग सभी प्रमुख अलंकारों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की वाणी के साथ अलंकार चलते हैं। अलंकारों के साथ प्रयत्न की आवश्यकता तो कभी संभवतः, कवि को, पड़ी ही नहीं। कृत्रिमता वाले अलंकारों का व्यवहार कवि की कृतियों में नहीं मिलता। खोजने पर परिसंख्या का भी एक ही उदाहरण मिल सका :—

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक नृत्य-समाज ।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग रामचन्द्र के राज ।।

शब्द-श्लेष भी कम ही मिलते हैं। भाव, गुण, वस्तु और घटना की तीव्रता बढ़ाने में सफल अलंकार ही कवि द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।

(६) उक्ति-वैचित्र्य—शुक्ल जी का कहना है, "उक्ति-वैचित्र्य से हमारा अभिप्राय बेपर की उड़ान से नहीं है—मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को और विषयों से कुछ अलग करके दिखलाता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा, व्यंजना-शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु पर्य्यायोक्ति जैसे अलंकारों का।" अपनी तीव्र सहानुभूति, उमंग में आकर अनेक युक्तियों और कल्पना-चित्र की सहायता से कवि अपनी व्यंजना को कहीं अधिक प्रभावशाली बना देता है।

लक्षणा— मनहुँ उमगि अँग अँग छवि छलकै ।

व्यंजना— हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथपति
जो लघुतहिं न मितैहौ ।

काकु— मैं सुकुमार नाथ बन जोगू ।
तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू ।।

पर्य्यायोक्ति— नाथ ! लखन पुर देखन चहहीं ।
प्रभु संकोच उर प्रकट न कहहीं ।।

उक्ति-वैचित्र्य के साथ ही गोस्वामीजी में उक्ति की निश्छलता भी है। अपना हृदय खोलकर वे पाठक के सम्मुख रख देते हैं। उक्ति पर उक्ति का जमाना कवि की विशेषता है। देखिए :—

बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहहि नाग अरि भागू ।।
जिमि चह कुसल अकारन क्रोही। सब संपदा चहै सिव द्रोही ।।
लोभी लोलुप कीरति चहही। अकलंकता कि कामी लहही ।।
हरिपद बिमुख परम गति चाहा। तिमि तुम्हार लालच नरनाहा ।।

अनूठापन भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। कौशल्या जी प्राण

नहीं छोड़ सकतीं—'लगे रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता ।' और इसी से 'दुख न रहहिं रघुपतिहिं बिलोके, मनु न रहे बिनु देखे ।' मरें तो किस प्रकार । कभी-कभी कवि अपने पाठकों की सौंदर्य-बुद्धि को प्रभावित करने के लिए विपरीत भावनाओं को एकत्र प्रदर्शन करता है —

तब सिव तीसर नयन उघारा । चितवत काम भयउ जरि छारा ।।
हाहाकार भयउ जग भारी । डरपे सुर भए असुर सुखारी ।।
समुझि काम सुखु सोचहिं भोगी । भए अकंटक साधक जोगी ।।

(७) प्रकृति-वर्णन—हिन्दी-कवियों का प्रकृति-निरीक्षण इतना सूक्ष्म नहीं हुआ जितना संस्कृत-कवियों का, फिर भी गोस्वामी तुलसीदास जी इसका अपवाद हैं। दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता, बिंब-ग्रहण कराना भी होता है । आसपास की वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा । वाल्मीकि जैसा हर्षोल्लास तो गोस्वामी जी के प्रकृति-वर्णन में नहीं है फिर भी वे सच्चे और सहृदय भावुक थे, भक्त थे, और सम्पूर्ण प्रकृति को 'सियाराममय' जानकर हृदय में गूढ़ अनुराग रखते थे । स्थान-स्थान पर सूक्ष्म निरीक्षण भी दृष्टिगत होता है—

जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग ।
मानहुं जग-रचना विचित्र बिलसति बिरात अंग अंग ।।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भर-भर जल आछे ।

परन्तु रामभक्ति का ध्यान सर्वदा रहा है और अन्तिम पंक्ति है—

तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे ।।

गोस्वामी जी के द्वारा भी हिन्दी-कवियों की परम्परा का निर्वाह हुआ है । भाव-उद्दीपन की दृष्टि से जहां-तहां प्रकृति-वर्णन हुआ है परन्तु रीति-ग्रन्थ की गिनाई वस्तुओं से आगे-अपने अनुभव से भी काम लेते हैं । उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं । प्रकृति-वर्णन में उनकी प्रवृत्ति उपदेश देने की भी रहती है—

(१) बर्षहिं भूमि जलद नियराये ।
यथा नवहिं खल विद्या पाये ।।
(२) उदित अगस्त्य पंथ-जल सोखा ।
जिमि लोभहि सोखै संतोषा ।।

प्रकृति के साथ मानवी प्रकृति का चित्रण भी है। राम की एक झांकी लीजिए :—

जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच ।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच ।।

बालक्रीड़ा के अनेक दृश्य भी हमारे सामने आते हैं। वर्षा और शरद् के वर्णन तो स्पष्टतः 'मानस' में ही मिलते हैं, साथ ही कवित्तावली और गीतावली में यथास्थान प्रकृति-निरूपण है। मानवी व्यापारों में प्रकृति की बहुत कुछ घनिष्टता है। सूर्य-चन्द्र-वर्णन भी मिलते हैं और उनके प्रति अनेक उक्तियां हैं। बाल-सूर्य और बाल-चन्द्र का दर्शन होता है, फुलवाड़ी, समुद्र, पर्वत, कानन और प्रकृति के प्रांगण में खेलते तथा विचरते हुए प्राणियों का वर्णन है। अधिक सूक्ष्म निरीक्षण अथवा केवल प्रकृति-वर्णन कम मिलता है।

(८) लोक-कल्याण—गोस्वामी जी की अपनी कृतियों में लोक-कल्याण की भावना सब जगह दीखती है। यद्यपि 'मानस' को वे 'स्वान्तःसुखाय' कहते हैं, किन्तु उसके द्वारा संसार का जितना कल्याण हुआ और हो रहा है इसे कोई भी विचारशील व्यक्ति भुला नहीं सकता। अवस्थी जी के शब्दों में—"गोस्वामी जी भारतवर्ष के उत्क्रण ऋणी हैं। भारतीय संस्कृति की वे कीर्ति हैं। वे सच्चे साधु हैं, निश्छल भक्त हैं, छिपे हुए शिक्षक हैं और धीमे सुधारक हैं। मर्त्य और स्वर्ग का ऐसा अनूठा सोहाग विश्व के साहित्य में कदाचित् नहीं ही मिले।" उनकी दैवी अन्तःप्रेरणा विश्व के व्यवहार-शास्त्र की नींव है। गोस्वामी जी नये होते हुए भी पुराने हैं और पुराने होते हुए भी नये। जितनी बार लोग उनकी पंक्तियों को पढ़ते हैं, नया श्वास आता है, नये प्राणों के झूले में नया सौरभ फैलता है। नया संगीत, नया भावखंड, नया विचार और कला का नया

रूप गोस्वामी जी की पंक्तियों के सिंहावलोकन का अनिवार्य निष्कर्ष है। वे संसार के भी थे और नहीं भी थे। उनकी रचनाओं में दुरूहता नहीं। वे चाहते थे कि उनकी रचनाएँ लोक का कल्याण करें, स्थान-स्थान पर उन्होंने इस बात का संकेत भी किया है। भक्ति की चरमसीमा पर पहुँच कर भी उन्होंने लोकपक्ष नहीं छोड़ा। 'लोक-संग्रह-भाव उनकी भक्ति का एक अंग था।'

तुलसीदास जी की यह इच्छा सर्वदा ही रही कि मानव-मात्र का कल्याण हो। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश सब का कल्याण हो, सब को सुख और शान्ति मिले। इसके लिए उन्होंने 'रामनाम चिंतामणि चारू' का उपदेश मात्र नहीं दिया, अपितु साथ ही अनेक गंभीर परिस्थितियों के लिए अत्यन्त व्यावहारिक उपदेश भी दिये। उनका अभिप्राय मानवीय वृत्तियों का परिष्कार करना भी था। इस हेतु तुलसीदास जी ने अपनी सुन्दर भाव-व्यंजना तथा कल्पना-विधान के द्वारा एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की। वे मानवी स्वभाव में स्निग्धता, मृदुता और शान्ति को सर्वदा देखना चाहते थे—पारस्परिक विरोध की वृत्ति उन्हें रुचिकर नहीं थी। देश की सामाजिक अवस्था से उन्हें संतोष नहीं था। वे उसके वास्तविक सुधार के अभिलाषी थे। शैव और वैष्णवों का अकारण विरोध वे अच्छा नहीं समझते थे। उन्होंने कहा, "शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै।" गोस्वामी जी मर्यादा का बहुत ध्यान रखते थे। उनके 'मानस' में ही देखिए मर्यादा का सर्वत्र कैसा सुन्दर निर्वाह हुआ है! शूद्रों के प्रति भी उनके भाव अच्छे थे, निषाद के रूप में इस प्रश्न का अच्छा उत्तर मिलता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गोस्वामी जी द्वारा जनता-जनार्दन का जो कल्याण हुआ, उत्साह-हीन हिन्दू-जाति को जो प्रेरणा मिली, कला का जितना सुन्दर रूप प्रस्फुटित हुआ, भावों का जितना परिष्कार हुआ वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपनी तुलना नहीं रखता। अपनी आलोचना को सर्वांगपूर्ण बनाने की दृष्टि से विद्वान् टीकाकार और लेखकों

ने तुलसीदास जी की कुछ खटकनेवाली तथा कतिपय त्रुटिपूर्ण प्रयोगों की ओर संकेत किया है जिनमें से कुछ का संबंध चरित्र-चित्रण और कथानक से है तथा कुछेक उनकी उक्तियों के विषय में हैं। इन शंकाओं के समाधान की चेष्टाएं भी की गई हैं और कथित त्रुटिपूर्ण प्रयोग की उपयुक्तता को भी बताया गया है। यदि हम इन्हें स्वीकार न भी करें तो भी मानना पड़ेगा कि ऐसे स्थल अगणित विशेषताओं के समक्ष नगण्य हैं और कवि एवं लोकोपकारक की पंक्ति में हमारे चरित्र-नायक का एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट स्थान है।

"उनकी वाणी की प्रेरणा से आज जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई से घृणा करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव-जीवन का महत्त्व अनुभव करती है।" (शुक्ल) और उनकी कला के लिए तो 'हरिऔध' जी ने कह ही दिया—

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसि पा तुलसी की कला।"

मीराबाई

आविर्भाव-काल—

"भारतीय साधकों की साधना अतीत काल से ही अध्यात्मलाभ की ओर उन्मुख रही है। कोई दर्शन के गहन तत्त्वज्ञान को आश्रय मानकर इष्ट-सिद्धि में संलग्न हुआ और कोई काव्य और संगीत को अपना कर। पहली साधना प्रज्ञात्मिका कही जा सकती है जो उपनिषद्, वेदांत आदि में अविलुप्त है। दूसरी रागात्मिका जो भावुक कवियों की कविताओं और तपोनिष्ठ गायकों के गानों में स्पंदमान हो विराजती है तथा कल-कल-निनादिनी पुण्यतोया मन्दाकिनी के समान पाठकों और श्रोताओं के हृदय-क्षेत्र को परिप्लावित करती है। मीराबाई इसी कोटि की साधिकाओं में थी।" (प्रेम-वाणी) जब राजनैतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच रही थी, साहित्य की अनेक प्रगतियां चल रही थीं और धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न विचार-धाराएं प्रचलित थीं, मीरा ने अपनी स्वर-लहरी, प्रेम-तन्मयता तथा अटूट श्रद्धा से भक्ति-रस की पुनीत सरिता प्रवाहित की जिसमें सूर की क्रीड़ा, तुलसी की दृढ़ता और कबीर की रहस्यात्मकता के साथ-साथ प्रेम का ऐसा पुनीत उन्माद था जो आज भी पाठक के हृदय को पिघला कर नेत्रों के द्वारा अपना महान् प्रभाव प्रत्यक्ष करता है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—मीराबाई के आविर्भाव के समय पठान-सम्राटों का अन्तिम लोदी-वंश दिल्ली में शासन-सत्ता ग्रहण किये हुए था। कुछ ही समय पश्चात् पानीपत के मैदान में एक बार फिर भारत के भाग्य का निपटारा हुआ और सन् १५२६ में मुग़ल-राज्य की नींव पड़ी। देश में इधर-उधर आक्रमण होते रहते थे। राजस्थान भी अछूता नहीं बचा। राणा सांगा की इतिहास-प्रसिद्ध वीरता से आज भी भारत का मस्तक ऊंचा हो रहा है। वैसे राजस्थान के राजा लोग अपना-अपना राज्य संभाले हुए थे, किन्तु

पारस्परिक वैमनस्य उनकी स्वतन्त्रता को धीरे-धीरे खोखला कर रहा था। उस समय मारवाड़ और मेवाड़ दो प्रसिद्ध राजपूत राज्य थे और इन दोनों से ही हमारी चरित-नायिका का घनिष्ठ संबंध है। जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी का समय सन् १४४० से सन् १५१५ तक है और मीरा इन्हीं की पौत्री थीं। मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ मीरा का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ था। राजस्थान पर मुग़लों के हमले शुरू हो गये थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समय राजपूतों के आदर्श उच्च थे, वीरता उनका वंशानुगत गुण था और उनकी धाक से मुग़लों को सर्वदा सावधान रहना पड़ता था। मेवाड़ और मारवाड़ के गहलोत और राठौड़ वंश राजपूताने के राजवंशों में प्राचीन तथा सम्मानित हैं और इनमें बराबर वैवाहिक संबंध होते चले आये हैं। मीराबाई उसी परम्परा की एक मधुर कड़ी थी।

(ब्रजरत्नदास माधुरी)

धार्मिक अवस्था---राजनीतिक परिस्थिति की अपेक्षा मीरा का चरित्र और साहित्य समझने के लिए उस समय की धार्मिक परिस्थिति अधिक अनुकूल थी। कई प्रसिद्ध धर्माचार्य नये-नये मतों का प्रतिपादन कर रहे थे। उदाहरण के लिए पंजाब में गुरु नानकदेव ने अपने मत का प्रचार किया। पूर्व की ओर बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रेम-परिपूरित, कीर्तन-संयुक्त भक्ति की तन्मयता का आदर्श रखा। ब्रज में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की। उधर सूफ़ी कवि अपने धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन अपनी मूल्यवान् रचनाओं द्वारा कर रहे थे। संतमत के अन्य प्रतिष्ठाता स्थान-स्थान पर 'हरि को भजे सो हरि का होय' सिद्धांत का विस्तार कर रहे थे। धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार तीन-चार धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। ज्ञान-योग की धारा परम तत्त्व का अनुभव करने के लिए ज्ञान का प्रश्रय लेती थी और अद्वैतवाद को सार्थक बनाती थी। सूफ़ियों द्वारा 'प्रेम की पीर' का प्रचार कई प्रकार से उस समय के विचारों को प्रभावित कर रहा था और सब से प्रमुख थी 'भक्ति-भाव'

की धारा जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसार पा रही थी। मीराबाई के समय तो हिन्दी का प्रायः संपूर्ण क्षेत्र भक्तिभाव से आप्लावित हो रहा था। मीरा अपने समय की सभी विचारधाराओं से प्रभावित हुई। ज्ञान के तत्त्व उसके काव्य में स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ते हैं—सतगुरु, शून्य महल आदि इसी की ओर संकेत हैं; जायसी और कबीर का रहस्यवाद, जिसमें प्रेम का मीठा पुट है, भी लक्षित होता है। भक्ति की दृष्टि से तो मीराबाई का जीवन आत्मसमर्पण का ज्वलन्त उदाहरण था। उसने प्रेम की अश्रुधारा से अमर बेलि का सिंचन किया था।

साहित्यिक गतिविधि—साहित्यिक कृतियों का धार्मिक विचारों से संबंध रहता ही है। इस काल में भक्ति-रचनाएँ ही प्राप्त होती थीं और इसी कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह युग 'भक्तिकाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय निर्गुण संत अपने मत का प्रचार अपनी 'सधुक्कड़ी' भाषा में कर रहे थे। साधुओं की टोलियां 'निर्गुण' के पद गा-गाकर 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' का नाम ले-लेकर प्रचार-कार्य में व्यस्त थीं। इस प्रकार के अगणित पदों की रचना हुई और संत-साहित्य की प्रगति बढ़ती रही। इस समुदाय की तरह ही एक अन्य दल भी निकल आया था जो 'गोरखपंथी' कहलाता था। ये लोग इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के गीत गाते थे, और कुंडलिनी जगाने का प्रयास करते थे। ये तांत्रिक हठयोगी अपने साहित्य द्वारा राजस्थान में भी प्रचार कर रहे थे। 'पद्मावत' की रचना मीरा के जीवन-काल में ही हुई और उसके पहले तथा पीछे प्रेमगाथाओं की परम्परा बराबर चलती रही। 'इश्क हक़ीक़ी' को जागृत करनेवाले ये कवि अब अवधी भाषा में दोहे, चौपाइयों के द्वारा 'हिय की पीर' को व्यक्त करने में व्यस्त थे। गोस्वामी जी भी मीरा के समकालीन हैं। वे भी 'सीताराम' की उपासना का उपदेश बड़े हृदयग्राही ढंग से दे रहे थे। उनका 'मानस' हिन्दी की अनुपम कृति है, उनकी भक्ति का पावन स्रोत उस समय असाधारण रूप से जनता को प्रभावित कर रहा था। श्री चैतन्यदेव ने भाव-प्रवाह में रम कर कीर्तन की प्रथा चलाई। जयदेव और विद्यापति की

संयोग-शृंगारसूचक रचनाएँ कृष्ण की केलि-क्रीड़ा को इस समय गीतों में उपस्थित कर चुकी थीं। "नवद्वीप की यही प्रेम-धारा जो गीतों में बह रही थी, मिथिला की अमराइयों में घूमती हुई ब्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ के चरण-रज को लेकर नवीन चेतना एवं प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की उस पहली प्रेम-पुजारिन के आंगन में उतरी।" (प्रेमसाधना) यही समय 'अष्टछाप' के कवियों का था। "कृष्णचरित के गान में गीति-काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त-कवियों ने भी किया। कृष्ण-संबंधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के ही क्षेत्र में हुआ, प्रबंध-क्षेत्र में नहीं। ... कृष्ण-भक्त कवियों ने श्री कृष्ण के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिए पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिए आवश्यक है। इस प्रकार कृष्ण-भक्तों की मुक्तक रचनाएँ चल रही थीं।" (शुक्ल) मीरा का क्षेत्र कुछ अलग ही था। उसे कृष्ण की लीलाओं से भी इतना संबंध नहीं था, जितना आत्मनिवेदन से, प्रेमोन्माद से—उसे तो 'गिरिधर' के 'रंग' में नाचना था और अपने जीवन को सफल बनाना था। इस युग के जितने भी मर्मस्पर्शी गीत बने उनमें मीरा के पद उच्च स्थान रखते हैं; उनमें वह आत्मस्पर्शिनी शक्ति है जो निरे उक्ति-वैचित्र्य अथवा काव्य की कृत्रिमता में नहीं हो सकती; वह तो प्रेम की व्यापक व्यंजना है, और एक प्रेमी हृदय की वास्तविक अभिव्यक्ति।

जीवन-वृत्त—

उपलब्ध सामग्री—मीरा की जीवनी प्रस्तुत करने के लिए हमारे पास बहुत-कुछ सामग्री है, जिसमें कुछ तो स्वयं मीरा के पदों में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है, और कुछ अन्य कवियों अथवा लेखकों की कृतियों में। इस प्रकार हमें मीरा की जीवनी, अन्तःसाक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के रूप में, प्राप्त हो सकती है। कुछ तत्कालीन कवि-महात्माओं से भी मीरा का थोड़ा बहुत संपर्क रहा और उनकी तिथियों तथा जीवन-व्यवहारों से भी इस संबंध में सहायता मिलती है।

मीरा का उल्लेख—

(१) श्री ब्रजरत्नदास जी ने ऐसे २३ ग्रंथकारों के नाम लिखे हैं जिनकी रचनाओं में मीराबाई का उल्लेख है। इनका समय १५५० से १८५० है। मीरा के समय के भी कुछ प्रमाण प्राप्त हैं। सबसे प्रथम नाम हरिराम जी व्यास का है। मीरा की मृत्यु के उपरान्त लिखे गये पदों में भी मीरा का उल्लेख मिलता है :—

(क) इतनौं है सब कुटुम हमारौ।
सेन, धना अरु नाभा, पीपा, कबीर, रैदास, चमारौ।।
सूरदास, परमानंद, मेहा, मीरा भक्ति बिचारौ।।

(ख) कृष्ण दास बिनु गिरिधर जू कौं अब लाड़ लड़ावै।
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै।।

(२) नाभा जी का 'भक्तमाल' काव्य के इतिहास में एक श्लाघ्य प्रयत्न है। मीरा के संबंध में उसमें एक छप्पय प्राप्त होता है। मीरा के लिए भूतकालिक क्रिया का प्रयोग हुआ है तुलसी आदि की तरह वर्तमान का नहीं। (राम-चरन-रस-भक्त रहत अह निसि ब्रत धारी) छप्पय यह है :—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगटि कलजुगहि दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।।
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को ऊधम कीनो।
बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यौं पीयौ।।
भक्ति निसान बजाय कैं काहू तैं नाहिन लजी।
लोक-लाज-कुल-शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी।।

(३) अन्य कवियों पर लिखी टीका के अनुसार प्रियादास जी ने मीरा पर भी १० कवित्त लिखे हैं जिनमें जन्म से लेकर मृत्यु तक का वर्णन है। एक प्रकार से पूर्ण जीवनी प्रस्तुत की गई है। देखिए, इस प्रकार आरम्भ हुआ है :—

मेरतो जनम-भूमि झूमि हित नैन लगै
पगै गिरिधारी लाल पिता ही के धाम में।

राना कैं सगाई भई करी ब्याह सामा नई
गई मति बूड़ि वा रंगीले घनस्याम में ॥

और मृत्यु का वर्णन जव मीरा को द्वारिका से लिवाने के लिए भेजा गया था :—

बेगि लै कै आवो मो प्रान दै जिवावौ
अहो गए द्वार धरनौ दै विनती सुनाइयै ।
सुनि बिदा होन गई राव रणछोर जू पैं
छाड़ो रोष हीन लीन भई नहीं पाइयै ॥

(४) चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं में मीरा का उल्लेख अनेक बार हुआ है । इन उद्धरणों के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले गये हैं ।

एक विद्वान् का कहना है—'वल्लभ-संप्रदाय के भक्तों ने मीरा की उपेक्षा की, दुर्वचन कहे तथा निरादर किया'* एक उदाहरण—

"अरे दारी रांड़ यह कोन को पद है, यह कहा तेरे खसम को मूंड है; जा आज ते तेरो मुंहड़ौ कबहूं न देखौंगो ।"

यह अभद्र व्यंग्य बहुत खटकता है और उस समय की अकारण कट्टरता का द्योतक है । पहली वार्ता से पता लगता है कि मीरावाई गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय जीवित थीं ।

(५) नाभाजी के 'भक्तमाल' की तरह दादूपंथी 'राघवदास' जी ने भी अपने गुरु के आदेश से 'भक्तमाल' की रचना की थी । प्रियादास जी की तरह इस 'भक्तमाल' पर भी चित्रदास ने टीका की है जिसमें अनेक दंतकथाओं का उल्लेख है । मूल में एक 'छप्पय' तथा एक 'मनहर' है—

(क) गोपिन की सी प्रीति रीति कलिकाल दिखाई ।
रसिकराइ जस गाई निडर रही संत सभाई ॥

---

*डा० वड़थ्वाल

रांनें रोस उपाइ जहर कौ घालौ दीन्हौं।
रोम षुस्यौ नहिं एक मांनि चरनांमृत लीन्हें॥
नौबति भक्ति घुराई कें पति सो गिरिधर ही सजे।
लोक वेद कुल जगत सुष मुचि मीरां श्रीहरि भजे॥

(ख) . . . . . राघो कहैं रांनौं मुषि बैंरी श्रव राजलोक
मीरां बाई गगन भरोसौ चक्रपांनि कें।

टीका में १० 'इंदव' छंद हैं जिनमें दंत-कथाओं के आधार पर जीवन-वृत्त है।

(६) इनके अतिरिक्त ध्रुवदास, नागरीदास, चरणदास, दयाबाई, नंदराम, प्राणधन, सुन्दरदास आदि ने मीरा का उल्लेख किया है—

नागरीदास रचित 'पद-प्रसंग-माला' में मीरा का उल्लेख ७वीं संख्या पर है।

(७) कर्नल टॉड कृत 'एनल्स ऑव राजस्थान' में लिखा गया है कि मीरा का विवाह राणा कुंभा के साथ हुआ। आगे लिखा है—"मीराबाई अपने समय की सौंदर्य तथा रहस्यपूर्ण भक्ति में सबसे अधिक प्रसिद्ध राजकुमारी थीं। इनकी रचना बहुत हैं, जो कृष्ण-भक्तों में प्रचलित हैं।" अब यह सिद्ध हो चुका है कि टॉड का मीरा को राणा कुंभा की स्त्री कहना भ्रम-मात्र है और अग्राह्य है।

(८) आधुनिक लेखकों में मु० देवीप्रसाद, पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्री जगदीशसिंह गहलोत, डा. ऐनी बेसेंट, मेकौलिफ़, कुं० सुखवीरसिंह, कविराज श्यामलदान, श्री कन्हैयालाल आदि के नाम लिये जा सकते हैं जिनके द्वारा इस कवयित्री के जीवन-वृत्त-संबंधी खोजों में उल्लेखनीय काम किया गया।

मीराबाई का अनेक उच्च व्यक्तियों तथा संत-महात्माओं से संपर्क होना बताया जाता है। जैसे—

(१) मीराबाई तथा गोस्वामी तुलसीदास जी का पत्र-व्यवहार।

(२) मीराबाई के पास अकबर और तानसेन का आना।

(३) मीराबाई और रैदास स्वामी (साधु) का प्रसंग।

(४) मीराबाई और वल्लभ जी के पुत्र जीव गोस्वामी का वर्णन।

इनकी तिथियों के आधार पर मीरा के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है किन्तु इन जनश्रुतियों को विद्वानों ने प्रामाणिक नहीं माना है इसलिए इनके द्वारा निकले निष्कर्ष हमें अधिक सहायता देते प्रतीत नहीं होते।

(क) कहा जाता है कि विशेष सताये जाने पर मीरा ने तुलसीदास जी को पत्र लिखा था। इसका उल्लेख 'मूल गोसाईं-चरित' में प्राप्त होता है। पत्रिका इस प्रकार आरम्भ हुई—"श्री तुलसी सुखनिधान दुखहरन गुसाईं।" और पूछा—"हम कूं कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई"। और तुलसीदास जी ने यह प्रसिद्ध पत्र उत्तर में लिखा :—

'जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिय ताहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही॥'

किन्तु तिथियों पर विचार करने से बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। यदि गुसाईं तुलसीदासजी का जन्म सं० १५५४ मान लिया जाय तब तो युक्ति कुछ ठीक बैठती है अन्यथा सं० १५८९ मानने पर, जैसा कि अधिक विद्वान् मानते हैं, बात ठीक नहीं उतरती। अत्याचार करने वाला विक्रमाजीत सं० १५९३ में मरा। उस समय गोस्वामी जी केवल ४ वर्ष के हुए; पत्र तो और भी पहले भेजा गया होगा। इसी प्रकार अन्य जनश्रुतियों के संबंध में भी तिथि-संबंधी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं।

(ख) नागरीदास जी के भक्तमाल के अनुसार मीरा के गुरु जीव स्वामी बताये गये हैं। एक गुजराती कवि ने भी यही बात कही है, और यही वियोगी हरि जी का मत है, किन्तु कुछ लोग भक्तदास रघुनाथदास को इनके गुरु बताते हैं। दे महोदय ने सनातन गोस्वामी द्वारा वृन्दावन में दीक्षा ग्रहण करने की बात लिखी है। वास्तविकता तो यह प्रतीत होती है कि श्रेष्ठ भक्तिनी मीरा अपना असली गुरु गिरिधर जी को ही मानती थीं। उनकी उपासना तो माधुर्य भाव के लिए साकार-पद्धति की थी, अतः किसी संत-मत वाले का गुरु होना संभव-सा नहीं

मालूम होता। फिर वृन्दावन जाने से बहुत पूर्व वे दीक्षित हो चुकी थीं। वैसे अनेक महात्माओं के प्रति उनकी श्रद्धा रही होगी।

अन्तःसाक्ष्य—मीरा के पदों में अनेक स्थानों पर कुछ उपयोगी सामग्री दृष्टिगत होती है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

(१) मेरो मन हर लीनो राजा रणछोड़।
आसपास रत्नाकर सागर गोमती जी करे कलोल॥
(मीरा जी का द्वारिका जाकर रणछोड़ जी के प्रेम में मग्न होना)

(२) (क) विखन प्याला भेजिया रे दो मीरा ने हाथ।
करि चरणामृत पी गयां म्हारा राम तणे विश्वास॥
(ख) राणा जी तैं जहर दियो में जाणी।
(ग) राणो विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई।
(विष वाली वार्ता का समर्थन—अनेक पदों में इसकी आवृत्ति हुई है।)

(३) (क) पेइया वासक भेजिया ने दीयो मीरा ने हाथ।
हार गलामां नाइयो ने मेहेल भयो उजास॥
(ख) सांप पिटारो राणा जी भेज्यो द्यो मेणतणी गल डार।
(सर्प का माला बन जाना। राणा के अत्याचारों का वर्णन)

(४) राठौड़ां की धीयड़ी जी सीसोद्या के साथ।
(राठौर कुल की पुत्री तथा सीसोदिया वंश में विवाहित)

(५) मेड़तियां घर जन्म लियो है मीरां नाम कहायो।
(मेड़ते में जन्म लेकर, मीरा नाम रखा जाना। कुछ 'मीरा' शब्द को उपनाम भी कहते हैं।)

(६) ईडरगढ़ का आया ओलंबा।
भाभी मीरा लाजे गढ़ चित्तौड़॥
भाभी मीरा लाजे लाजे थॉरा माय न बाप।
पीहर लाजे जी थांरो मेड़तो॥

(मीरा की ननद ऊदाबाई द्वारा मीरा को बताया जाना कि उसका साधु संतों से मिलना उसके दोनों कुलों के लिए लज्जा की बात हो रही है)

(७) राणा जी अब न रहूंगी तोर हटकी।
पीहर मेड़ता छोड़ अपना सुरत करत दोउ चटकी।

(मीरा का संकल्प—वह अपना सत्संग नहीं छोड़ सकतीं चाहे राणा बुरा ही क्यों न माने)

(८) राजकुल की लाज गमाई साधांके संग में भटकी।
नित उठ हरि जी के मन्दिर जास्यां नाच्यां दे दे चुटकी।
जेठ वहू की काण न मानूं घूंघट पड़ गह पटको ।।

(साधुओं के संग घूमना; मंदिर में नृत्य करना तथा ज्येष्ठ वधू होना)

(९) सिसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई कर लेसी।

(राणा यदि कुपित हैं तो हों मेरा क्या कर लेंगे)

(१०) काजल टीकी हम सब त्यागो, त्यागो छै बांधन जूड़ो।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर घर पायो छै पूरो ।।

(संपूर्ण शृंगार छोड़ कर गिरिधर को पति-रूप में ग्रहण करना)

(११) मारू घर मेवाड़ मेड़तो, त्याग दियो थारो शहर।
थारे रूस्यां राणा कुछ नहिं बिगड़े अब हरि किन्ही म्हेर ।।

(मेवाड़ छोड़ देना और भगवान् की शरण लेना)

(१२) 'नरसी जी का मायरा' से—
क्षत्री वंस जनम मम जानो, नगर मेड़तं बासो।
नरसी को जस बरानि सुणाऊं नाना विधि इतिहासो।
ह्वै प्रसन्न मीरां तब भाख्यो सुन सखि मिथुला नामा।।

('नरसी जी का मायरा' नामक पुस्तक की रचना और अपने वंश का परिचय)

इनके अतिरिक्त मीरा के पदों में कुछ उन भक्तों का उल्लेख भी हुआ है जो या तो मीरा से पहले हुए अथवा जिनकी ख्याति मीरा के समय में यथेष्ट हो गई थी और संभवतः जिनका सत्संग भी मीरा को प्राप्त हुआ था। सेन नाई, पीपाजी, धन्ना, रैदास, कबीर, नामदेव, वामदेव, सदना, करमाबाई बुखारा के सुलतान आदि के नाम पदों में आते हैं। ये नाम संत-मतानुयायियों के हैं और जहां तक इनके वर्णन का संबंध है प्रायः सभी चतुर्थ वर्ण के थे। इसी प्रमाण पर कुछ लोग रैदास जी को मीरा का गुरु बताते हैं। इनमें से ५ तो श्रीरामानुज जी के शिष्य थे। रामानुज जी का समय १५वीं शताब्दी है और यह शिष्य-मंडल उनके बाद का है। इससे मीरा की तिथि पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर मीरा का जन्म राठौड़ों की मेड़तिया शाखा के अन्तर्गत राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह जी के घर में संवत् १५५५ के आसपास हुआ। संवत् १५७३ में सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ इनका विवाह हुआ। कई लेखकों ने, जिनमें रामचन्द्र शुक्ल भी हैं, विवाह की तिथि को ही जन्म-तिथि लिखा है, जो भ्रम है। ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह के ४–५ वर्ष पश्चात् ही मीरा विधवा हो गईं, किन्तु उन्हें इस दुःख से संतप्त नहीं होना पड़ा; क्योंकि वे तो बाल्यकाल से ही श्री गिरिधर जी की भक्त थीं और उन्हीं को अपना वास्तविक पति समझती थीं। बचपन से ही मीरा ने 'गिरिधर लाल' को अपना पति सच्चे रूप में समझ रखा था।

मीरा के गुरु के संबंध में कुछ विचार ऊपर लिखे जा चुके हैं। इन पर संत-समुदाय तथा चैतन्य-मतानुयायी—दोनों—का प्रभाव पड़ा मालूम होता है। मीरा का साधु-संतों से मिलना रनिवास के नियमों के विरुद्ध था। उन्हें समझाने को चम्पा, चमेली दो दासियाँ रखी गईं, इनकी ननद ऊदाबाई ने भी समझाया किन्तु सब व्यर्थ। मीरा पर तो 'स्यामलिया' का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ था कि कोई दूसरा रंग चढ़ ही नहीं सकता था। राणा ने उस पर कई अत्याचार किये, मारने के अनेक प्रयत्न किये, किन्तु मीरा सुरक्षित रही और अपने निश्चय पर अटल रही।

नंहर और ससुराल दोनों की दुरवस्था देखकर मीरा तीर्थाटन को निकल पड़ीं। मीरा वृन्दावन गईं और फिर द्वारिका पहुंचीं जहां रणछोड़ जी की पूजा-अर्चना में समय बीतने लगा। मेड़ते के राव जयमल जी तथा चित्तौड़ के महाराणा उदयसिंह जी, दोनों ने मीरा को द्वारिका से बुलाने की चेष्टा की, किन्तु मीरा रणछोड़ जी को छोड़ कैसे कहीं अन्यत्र जातीं अतः गाते-गाते प्रभु की मूर्त्ति में समा गईं।

"अब मिलि बिछुरन नहिं कीजै"

कृतियाँ—

मीराबाई की रचनाएँ—

१—नरसी जी रो माहरो—माहरो का अर्थ है माहिरा, मायरा या 'भात'। नरसी जी मेहता ने अपनी पुत्री कुंवरबाई के सीमंत के अवसर पर किस प्रकार का भात पहिनाया, उसका वर्णन है—भगवान् किस प्रकार अपने भक्त की रक्षा करते हैं उसका मनोमुग्धकारी रूप है। यह किसी 'मिथुला' नामा सखी को संबोधित करके लिखा गया है—

ह्वै प्रसन्न मीरां तव भाख्यो सुनि सखि मिथुला नामा।
नरसी की विध गाय सुनाऊं सारे सब ही कामा॥

इसमें जहां-तहां 'दासी उवाच', 'मीरां उवाच' शब्द आये हैं, जिससे इसका प्रश्नोत्तर रूप में होना सिद्ध है।

पुस्तक के मध्य में मीरा की कितनी ही कोमल भावनाएं हैं, जिनमें प्रेम से भरा मीरा का हृदय छलक रहा है। साथ ही कुछ ऐसी रहस्यमयी भावनाएँ हैं जिनमें एक साधक के मन की बात के उद्घाटन का प्रयत्न है—

सोवत ही पल का में मैं तो पल लागी पल में पिउ आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर दैन कूं, जाग परी पिव ढूंढ न पाए॥
और सखी पिव सोय गमाए, मैं जु सखी पिव जागि गमाए।
आज की वात कहा कहूं सजनी, सपना में हरि लेत बुलाए॥

कहीं-कहीं मीरा के द्वारा भी यमक का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है और भावनाओं की सजीवता और गहराई तो पद-पद पर देखने में आती है। मीरा ने इस ग्रंथ के माहात्म्य का भी उल्लेख किया है। यथा—

यो माहरों सुनेरु गुंनिहं, बाजे अधिक बजाय।
मीरां कहं सत्य करि मानो, भक्ति मुक्ति फल पाय॥

(२) गीतगोबिंद की टीका (संभवतः महाराणा कुंभा वाली ही है), (३) मीराबाई का मलार (राग चलता है, स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं मिलता), (४) रामगोविंद (ग्रंथ तो नहीं मिला पर संभवतः यह रचा अवश्य गया था), (५) सोरठा के पद (मिश्रबन्धुओं द्वारा संग्रहीत)। उपर्युक्त चारों ग्रंथ अपने किसी वास्तविक रूप में हमारे सामने नहीं हैं अतएव उनके संबंध में कुछ भी कहना केवल कल्पना को खुला छोड़ देना है।

(६) मीरांनी गरबी—अथवा गरबा गीत। इनका उल्लेख झावेरीजी ने किया है। जैसे अवध में कजली का रिवाज है उसी प्रकार गुजरात में गरबा गीत का। गुजरात प्रांत में ये गीत मीरा ने सुने और उसी पद्धति पर कुछ लिखे—

बागियां बागियां बागियां रे मारो बलम बिराजे सारी वागियां रे
बाजे बाजे बाजे रे तेरे जंगल में घूंघरू बाजे रे।
कान्हा मोरी गागरिया भर दे भर दे हो सिर पर धर दे रे॥

इनके पद इतने प्रचलित हुए हैं कि कहा जाता है—'जिसमें मीरां की 'गरबी' नहीं है वह गरबा ही नहीं है।'

(७) मीरा के पद—ये फुटकर पद ही सबसे अधिक मिलते हैं और इनके द्वारा ही मीरा की काव्य-साधना पूर्ण सफल होती दिखाई देती है। इनकी संख्या प्रायः दो सौ के लगभग है। झावेरी जी ने कुछ गुजराती पदों का और उल्लेख किया है। पुरोहित हरिनारायण जी उनके पदों की संख्या ५०० बताते हैं। मीरा के पद गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, बिहारी, खड़ी बोली आदि में मिलते हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है

कि 'दास मीरां, लाल गिरधर' अथवा 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' नाम से अनेक पदों को जोड़ने की भी चेष्टा की गई है।

आलोचना की दृष्टि से मीरा के पदों पर ही विचार करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है क्योंकि अन्य ग्रंथ या तो मिलते ही नहीं, और जो मिलते भी हैं, वे अपूर्ण हैं।

पदों का विषय—"नित्य, निरंजन, निर्विकल्प, अव्यक्त कहने की भावना मनुष्य ने, सगुण ईश्वर के रूप में की परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुड़ाया। ज्ञानाधिकरण उपनिषदों ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिए कुछ व्यक्त प्रतीकों को ग्रहण किया, किन्तु जनसाधारण के लिए यह पद कुछ बन्द-सा ही था। बौद्ध-धर्म की भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्तिमूलक होने के कारण उपासना का पौधा उसमें न पनप सका। स्वामी रामानुज का द्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था। उसमें भी ब्रह्मवाद की अन्तिम लहरों की हलचल स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। रामभक्ति के 'दास्य' में दूरत्व का भाव हमारे भीतर घर किये रहता है, उसे प्रवाह नहीं मिलता। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में दूरी का क्रमशः लोप हो जाता है। शील और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। वल्लभाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्क तथा श्रीचैतन्य को इसी श्यामल प्रौढ़ स्वरूप ने आकृष्ट किया—जिसकी प्रेम-दार्शनिकता को श्री जयदेव तथा विद्यापति ने गा-गाकर परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया। यही प्रवाह राजस्थान में पहुँचा और प्रेम तथा आनन्द से मिला यह मधुर स्रोत मीरा के हृदय से प्रस्फुटित हुआ।"

मीरावाई की पदावली में रचयित्री के आभ्यंतर भावों का पूर्ण प्रकाशन हुआ जान पड़ता है। अपने आराध्य-देव की मोहिनी मूर्त्ति पर मीरा मुग्ध हो जाती है, उसके प्रेम की मादकता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है। उसकी सारी अभिलाषाएं, सारा चिन्तन, सारा क्रिया-कलाप प्रियतम की ओर ही आकृष्ट हो जाता है। वह अपने प्रियतम के बिछुड़ने

का अनुभव भी करती है। आशा का संचार भी दृष्टिगोचर होता है, और अभीष्ट से मिलन का दिग्दर्शन भी है। यही इन पदों का वर्ण्य विषय है। कुछ पद विनय और उपदेश के भी हैं, कुछ में रहस्यात्मकता का भी मधुर दर्शन होता है तथा कुछ-एक में कृष्णलीलाएँ भी वर्णित हैं।

आत्म-समर्पण––

सखी री, मैं तो गिरिधर के रंग राती ।
पीहर बसूं न बसूं सास घर, सतगुरु शब्द रँगाती ।
ना घर मेरा ना घर तेरा, मीरा हरि रँग राती ॥

विरह-व्यथा––

तुम्हारे कारण सब सुख छोड़्या इब मोहि क्यूं तरसावो रे ।
विरह-विथा लागी उर अन्दर, सो तुम आय बुझावो रे ॥
इब छोड़्या नहिं बनै प्रभूजी, हँसकर तुरत बुलावो रे ।
मीरां दासी जनम जनम की, अंग सूं अंग लगावो रे ॥

आशा का संचार––

सुनी मैं हरि आवन की अवाज ।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल मधुरे साज ।
गरजे बदरवा मेघा बोले, दामिनी छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया, कन्त मिलन के काज ।

विनय––

सुन लीजो बिनती मोरी, मैं शरण गही प्रभु तोरी ।
तुम तो पतित अनेक उधारे, भवसागर से तारे ॥

उपदेश––

लगे रहना, लगे रहना, हरी भजन में लगे रहना ।
साहेब का घर दूर है रे, जैसे लगी खजूर ।
चढ़े तो चाखे प्रेम रस पड़े तो चकनाचूर ॥

हाड़ चाम की देह बनी रे नवनाड़ी दश कोट।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर लगी मर्म की चोट॥

रहस्यात्मकता---

लागी मोंहि राम खुमारी हो।
रिमझिम बरसै मेंहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुं दिसि चमकै दामणी, गरजै घन भारी हो।
सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा, सब ही सूं न्यारी हो॥

लीला--

(क) आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी हे माय।
म्हारी गैल परयो गिरधारी, हे माय आज अनारी ले गयो सारी।
मैं जल जमुना भरन गई थी, आगयो कृष्ण मुरारी हे माय।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊबी ऊधारी हे माय॥

(ख) श्री राधे रानी, दे डारो वंशी मोरी।
जा बंसी में मेरो प्राण वसत हैं, सो वंशी गई चोरी।
काहे से गाऊं प्यारी, काहे से बजाऊं, काहे से लाऊं
गैयां घेरी। श्री राधे रानी०

पदों का रूप—मीरा के पदों का रूप अनेक परिस्थितियों में निश्चित हुआ। उस समय कई गीत-पद्धतियां प्रचलित थीं जिन सब का मीरा पर प्रभाव पड़ा। पहले सिद्धों व नाथों की पद-रचना-पद्धति चली आ रही थी जिसमें भाषा के प्रवाह तथा संगीत दोनों का अभाव था, फिर नामदेव और कबीर आदि ने कुछ परिवर्तन के साथ उन्हें प्रयुक्त किया। कृष्ण-संबंधी पद भी चल रहे थे—यह पद्धति गीत-गोविंद द्वारा विकसित हुई। मैथिली में विद्यापति, गुजराती में नरसी मेहता तथा बंगला में चण्डीदास द्वारा इस प्रकार की रचनाएं हुईं। इधर अष्टछाप की नई प्रणाली चल निकली थी। इस तरह मीरा के समय में कई पद्धतियां प्रचलित थीं जिनका न्यूनाधिक समावेश

मीरा के पदों में पाया जाता है, किन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन पर मीरा के व्यक्तित्व की गहरी छाप है।

निर्माण-काल—मीरा के पदों की कहानी उसके जीवन की कहानी है। न जाने कब से, संभवतः विवाह से भी पहले मीरा ने पद-रचना आरम्भ कर दी होगी और जीवन के अन्त तक उनका क्रम चलता गया। समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियों में लिखे ये पद मीरा के जीवन का—वास्तविक प्रेममय जीवन का—खुला पृष्ठ हैं। प्रेम की अनेक अवस्थाओं में मग्न मीरा इन पदों के द्वारा ही हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित होती हैं। अतएव पदों का रचना-काल काफ़ी लम्बा है और वह मीरा के अन्तिम दिनों तक चला। 'नरसी जी रो माहरो' के रचना-काल का निर्णय तभी हो सकेगा जब पूरी रचना प्राप्त हो। उपलब्ध पदों के आधार पर कोई विशेष निश्चय अभी नहीं हो पाया है।

काव्य-साधना—

मीराबाई ने केवल गेय पदों की ही रचना की है और यह गीति-परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। मीराबाई की पदावली में अपने जीवन-संबंधी पदों के सिवा उसके इष्टदेव 'गिरिधर नागर' की लीला-संबंधी बहुत से पद हैं। कुछ विरक्तिपूर्ण उपदेशमय भजन भी इन्होंने बनाये हैं, पर सबसे अधिक पद वे हैं जिनमें इन्होंने अपने अनुराग, तन्मयता, एक-निष्ठा, विरहाकुलता आदि हृदयस्थ भावों को बड़े ही मार्मिक रूप में प्रकट किया है। मीरा भक्त थी। कविता उसके हृदयरूप भावों के बाह्य प्रकाशन का साधन-मात्र थी। प्रधानता भाव-पक्ष की ही है, तदपि कला-पक्ष की भी नितांत अवहेलना नहीं हुई है। वर्णन भी सजीव है इसलिए कृष्ण-भक्त-कवियों की पंक्ति में मीरा का अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान है। अनेक बातों में अर्थात् आत्म-समर्पण एवं आत्मनिवेदन के संबंध में तो मीरा का स्थान सूर और तुलसी से भी ऊँचा है।

(१) वर्णन-कौशल—मीरा ने अपने भगवान् के अनेक रूपों का सुन्दर

वर्णन किया है तथा कई स्थानों पर उनकी शक्ति 'राधा' का भी सौंदर्य-वर्णन किया गया है।

स्वरूप-वर्णन--

कृष्ण—सखी, म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर।
मोर-मुकट पीताम्बर सोहै कुंडल की झकझोर॥
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में, नाचत नन्दकिसोर।

राधा---आवत मोरी गलिन में गिरधारी, मैं तो छुप गई लाज की मारी।
केसरी चीर दरयाई को लेंगो, ऊपर अंगिया भारी।

तनिक ब्रजभूमि का वर्णन भी देखिए—

आली म्हांने लागे वृन्दावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविन्दो जी को।
निरमल नीर वहत जमना में, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासण आप बिराजे, मुकट धर्‌यो तुलसी को।
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका, सबद सुनत मुरली को।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, भजन बिना नर फीको॥

साथ ही मिलन, वियोग, ऋतुओं आदि का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। मीरा के वस्तु-वर्णन में ही हृदय-पक्ष का प्रावल्य है। एक-एक बात हृदय को स्पर्श करती हुई वर्णन के सौंदर्य को बढ़ाती है। मीरा ने कृष्ण की कुछ लीलाओं का भी वर्णन किया है, जैसे दधि-लीला, नाग-लीला, चीरहरण, फाग-लीला, सुदामा-लीला।

नाग-लीला---कमल दल लोचना, तैंने कैसे नाथ्यो भुजंग।
पैसि पियाल कालीनाग नाथ्यो, फण-फण निर्त करंत।
कूद पर्‌यो न डर्‌यो जल मांही और काहू नहिं संक।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर श्रीवृन्दावन चंद॥

सुदामा-लीला---देखत राम हँसे सुदाम कूं, देखत राम हँसे।
फाटी तो फूलड़ियाँ पाँव उभाड़े, चलतें चरण घसे।
बालपणे का मीत सुदामा, अब क्यूं दूर बसे।

कहा भावज ने भेट पठाई, तांदुल तीन पसे।
कित गई प्रभु मोरी टूटी टपरिया, हीरा मोती लाल कसे।।

रहस्यवाद के अनेक प्रसंग भी वर्णन की दृष्टि से अच्छे बन पड़े हैं।

(१) वर्णन-कौशल—वही व्यक्ति वर्णन-कुशलता प्राप्त कर सकेगा जिसका व्यक्तिगत अनुभव हो। आंतरिक अनुभूति ही सजीव होकर मधुरता का संचार करती है। अनुभूति-हीन काव्य काव्य नहीं होता। मीरा की सारी कविता उनकी व्यक्तिगत अनुभूति ही तो है। सजीवता और चित्रमयता की अनोखी छटा इस पद में दर्शनीय है :—

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि से मिलूं कैसे जाइ।
ऊँची-नीची राह रपटीली, पांव नहीं ठहराइ।
सोंच सोंच पग धरूं जतन से, बार-बार डिग जाइ।
ऊंचा नीचा महल पिया का हम से चढ़्या न जाइ।
पिया दूर पंथ म्हारो झाणो, सुरत झकोला खाइ।
कोस-कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड-पैंड बटमार।
हे विधना कैसी रच दीन्हीं दूर बस्यो म्हारो गाम।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, सतगुर दई बताय।
जुगन-जुगन से बिछुड़ी मीरां, घर में लीन्ही ल्याय।।

(२) भाषा—मीरा के पदों में अधिक पद राजस्थानी के हैं, किन्तु वैसे बहुत-सी भाषाएँ मिलती हैं। मीरा मारवाड़ की बेटी तथा मेवाड़ में ब्याही थीं, अतएव राजस्थानी का होना तो स्वाभाविक ही था। कृष्ण की लीलाएँ ब्रजभाषा में प्रचलित थीं अतएव ब्रज का पुट भी स्वाभाविक था। द्वारिका जाने से मीरा की भाषा में गुजराती भी सम्मिलित हुई, इस कारण अनेक पद गुजराती के भी हैं। संतों से संपर्क होने के कारण अवधी, पंजाबी, खड़ीबोली आदि अन्य भाषाओं के शब्द आ गये, अतएव मीरा के पदों की भाषा मिश्रित है—

पंजाबी—लागी सोही जाणै, कठण लगण दी पीर।
बाहर घाव कछू नहिं दीसै रोम-रोम दी पीर।

खड़ी बोली—"मैं तो गिरिधर के घर जाऊं", बिहारी—"होरिजन धोबिया मनि धोई"; अवधी—"बरजहु आपन उलसवा, हमसों अरुझाय"; राजस्थानी—"थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी" आदि। इस प्रकार अनेक भाषाओं के रूप देखने में आते हैं। परन्तु एक ही पद के अन्दर कई भाषाओं के रूप प्रायः नहीं मिलते, इससे पदों का माधुर्य अक्षुण्ण रह सका है। मीरा की भाषा को 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नहीं कह सकते क्योंकि व्याकरण के नियमों को भाषा-विशेष के अनुसार ही व्यवहृत किया गया है। मीरा के पदों का बहुत-कुछ प्रचार रहा है। अपने अपूर्व माधुर्य के कारण तो वे समाज के गले का हार बन गये हैं। उनकी गीतात्मकता ने उनके प्रचार में भी बहुत-कुछ योग दिया है। प्रचार के कारण उनके रूप में कितना परिवर्तन हुआ यह कहना कठिन है किन्तु जो भी रूप उनका इस समय उपलब्ध है वह अत्यन्त हृदयग्राही है।

(३) छन्द—पिंगल की दृष्टि से नाप-तोल करने पर पदावली का कदाचित् कोई भी पद नियमानुसार बना हुआ प्रतीत नहीं होता। मात्राओं की गड़बड़ बहुत और कहीं-कहीं तो दो-तीन तक शब्द बढ़ जाते हैं। गतिभंग के दोष भी अनेक हैं। ऐसा प्रतीत होता है, गाने की सुविधा के लिए इन छंदों में काफी परिवर्तन हुए। पदावली के अन्तर्गत कम-से-कम १५ प्रकार के छंद अवश्य पाये जाते हैं। सार और सरसी छंद का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। ये दोनों मात्रिक छंद हैं। दोहा छंद भी बहुत बार आया है और कहीं-कहीं सार तथा दोहे छन्द का सम्मिश्रण भी हो गया है। जैसे—

बड़े घर ताली लागी रे, म्हारां मन री उणारथ भागी रे।
इम्रत प्याला छाँडि कै, कुण पीवै कड़वो नीर॥

(प्रथम 'सार' फिर 'दोहा')

इनके अतिरिक्त ताटंक छंद, कुंडल छंद, चान्द्रायण, उपमा छंद, विष्णु पद आदि छंद भी हैं। ये सब मात्रिक छंद हैं। वार्णिक छंदों में मनहर कवित्त के कुछ उदाहरण मिलते हैं। गायन-कलाविदों का कहना है कि पद-रचना में भिन्न-भिन्न छंदों का एकत्र प्रयोग, दोष नहीं समझा जाता;

इसी प्रकार लय, ताल आदि का विचार करते समय विरामों में भी अंतर हो जाता है। ह्रस्व और दीर्घ में भी पारस्परिक परिवर्तन हो सकता है। मीरा के पदों में हमें बहुत से उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं।

(४) अलंकार-योजना—मीरा के पद भावपक्ष-प्रधान हैं। उनमें अलंकारों की ओर उतना ध्यान नहीं। बाह्य रूप-सौष्ठव की क्या आवश्यकता जबकि उनमें इतनी आन्तरिक उच्चता है। भावों का वर्णन करते समय कल्पना का आश्रय लेना ही पड़ता है। प्रस्तुत को कभी अप्रस्तुत के द्वारा और साथ ही रहस्यपूर्ण अप्रस्तुत को प्रस्तुत द्वारा वर्णन करने की आवश्यकता आ पड़ती है। यह आवश्यकता कवि की रचना में अलंकारों की योजना स्वतः ही कर देती है। मीरा के अलंकार इसी प्रकार के हैं। मीरा की पद-रचना, काव्य-रचना की दृष्टि से नहीं हुई। उसने तो अपने हृदय के उद्गार उँड़ेलने के साधनों को काम में लिया है और इस कार्य के लिए काव्य सबसे उत्तम साधन प्रतीत हुआ जिसके साथ मीरा का तन्मयतापूर्ण नृत्य और भी सम्मिलित है। वास्तव में मीरा के पदों का रूप हमारे सामने तभी उपस्थित होता है जब हाथ में खड़ताल लिये हुए, भगवान् की प्रतिमा के समक्ष नृत्य करती हुई यह पुनीत प्रेम-प्रतिमा 'मैं गिरिधर आगे नाचूंगी' गा-गा कर अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट करती है। ऐसी अवस्था में अलंकार कितने पीछे पड़ जाते हैं इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। मीरा के पदों में 'रूपक' अलंकार प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है—

(क) मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥

(ख) या तन को दियना करों, मनसा करों बाती।
तेल भरावों प्रेम का, बारों दिन राती॥

(ग) मोहि बाघण विरह सतावै जी, कोई करियो पार न पावैजी।

उपमा, उत्प्रेक्षा भी मिलते हैं—

उपमा— मैं कोइल ज्यूं कुरलाऊँ जी,
कुछ बाहरि कहिन जणाऊँ जी।

उत्प्रेक्षा— कुंडल की अलक झलक कपोलन पर धाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भ्रकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूलो मृग छौना॥

उपमा— अधर बिंब अरुण नैन, मधुर मन्द हाँसी।
दसन दमक दाड़िम द्युति, चमके चपला सी॥

स्वभावोक्ति, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, आयुक्ति अलंकार भी स्थान-स्थान पर आये हैं। अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालंकार भी मिलते हैं।

अनुप्रास— कहा करूं कछु वस नाँहि मेरो पंख नहीं उड़जावन को

श्लेष— खोल मिली तन-गाती

कहने का अभिप्राय यह है कि मीरा की कविता अलंकार-विहीना भी नहीं है यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य भाव-प्रकाशन ही है।

प्रेम-साधना—

मीरा के काव्य की यही सर्वप्रमुख विशेषता है। "काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की संपत्ति हैं। काव्य का परम [उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य-संवेदन-अनुभूति अंगज हैं।" प्रेम की आनन्दानुभूति] के लिए मीरा का हृदय सर्वथा उपयुक्त था। प्रेम की प्रत्येक अवस्था का मीरा ने दिग्दर्शन कराया है जो प्रेम के सांसारिक भाव से उठकर रहस्यात्मक प्रेम की कोटि तक पहुंचा है। प्रेम के स्वरूप का सात्त्विक चित्रण, माधुर्यभाव के प्रदर्शन में गोपीभाव, पतिभाव तथा विरहभाव का चित्रण, साथ ही मिलन की अनेक अवस्थाओं का उदघाटन सभी कुछ मीरा की प्रेमसाधना के अन्तर्गत है।

(१) प्रेम का स्वरूप—मीरा की भक्ति माधुर्यभाव की है। माधुर्य का सबसे सुन्दर चित्रण पति-पत्नी के प्रेम में मिलता है, और मीरा ने यही भाव ग्रहण किया। यह स्वाभाविक है कि जो गूढ़ प्रेम एक युवती के हृदय में, किसी युवक को देखकर, जाग उठता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। स्त्री-पुरुष की ऐसी ही आसक्ति के संबंध में शृंगार-रस का प्रादुर्भाव होता है। मधुर-रस के भी भाव, विभाव आदि शृंगार के ही अनुसार होते हैं। शृंगार-रस का संबंध स्थूल शरीर से है और मधुर-रस का आत्मा से। गोपियों का प्रेम इसी प्रकार का था। इस प्रेम का मार्ग निराला होता है—अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, किन्तु प्रेम में इतनी तीव्रता होती है कि किसी प्रकार की भी रुकावट प्रेम को रोकने में असमर्थ रहती है। मीरा को भी किसी की परवाह नहीं थी :—

पग घुंघरू बांधि मीरा नाची रे ...
लोग कहं मीरां हो गई बावरि, सास कहे कुलनासी रे।
जहर का प्याला राणा जी भेजा पीवत मीरां हांसी रे।
मैं तो अपने नारायण की हो गई आपहि दासी रे।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बेग मिलो अविनासी रे।

(२) माधुर्य-भाव—मीरा की भक्ति माधुर्य की पराकाष्ठा है। प्रभु के साथ एकांत में आत्म-निवेदन ही उसकी भक्ति का रूप है। मीरा के प्रभु उसके साथ रहते-से प्रतीत होते हैं। उनको खिलाती, पिलाती, सुलाती है, उनको प्रसन्न करती, रिझाती है; उनके वियोग का अनुभव करती है और उनके मिलन में अपूर्व सुख की प्राप्ति करती है। तनिक देखिए तो मीरा भगवान् को भोजन कराने के लिए कितनी दृढ़व्रत है! 'यदि प्रभु भोजन न करेंगे तो मीरा भी उपवास करेगी'—

तुम जीमो गिरधरलाल जी।
मीरां दासी अरज करे छे, सुनिये परम दयाल जी।
छप्पन भोज छतीसों विंजन, पावो जन प्रतिपाल जी।।

राजभोग आरोजो गिरधर सनमुख राखो थाल जी ।
मीरां दासी चरण उपासी कीजै वेग निहाल जी ।।

'अनुश्रुति है कि मीराबाई गोपी का अवतार थीं और वह गोपी श्री ललिता थीं ।' गोपियों के हाथ कृष्ण बिक गये थे। मीरा कहती हैं—

माई हे गोविन्द लीनो मोल ।
कोई कहै सस्तो कोई कहै महँगो लीनो तराजू तोल ।।
कोई कहै घर में कोई कहै वन में राधा संग किलोल ।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर आवत प्रेम के मोल ।।

देखिए, केवल गिरिधरलाल को ही पति माननेवाली मीरा में कितनी तीव्र कामना है—

श्री गिरिधर आगे नाचूंगी ।
नाचि नाचि प्रभु रसिक रिझाऊं प्रेमी जन को जांचूंगी ।।
लोकलाज की कुल-मर्यादा या में एक न राखूंगी ।
प्रिय के पलंगा जा पौढूंगी 'मीरां' हरिरंग राचूंगी ।।

मीरा तो प्रभु के हाथ विक गई हैं। प्रभु जैसा चाहते हैं मीरा करती हैं। उनका तो सच्चा प्रियतम गिरिधर ही है —

मैं गिरिधर के घर जाऊं ।
गिरिधर म्हाँरो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊं भोर भये उठि आऊं ।
रैण दिना वाके सँग खेलूं ज्यूं ज्यूं वाहि रिझाऊं ।
जो पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊं ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण विनि पल न रहाऊं ।
जहां बिठावै तितहीं बैठूं बेचै तो बिक जाऊं ।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर बार-बार बलि जाऊं ।

कहा गया है कि शृंगारिक होने पर भी मीराबाई की प्रेम-साधना में देश, काल व अन्य परिस्थितियों के अनुसार गोपी-भाव से कुछ अन्तर भी था। उसका रूप मर्यादित था । उसके कुछ उच्च तथा मौलिक सिद्धांत थे जिनके

कारण उसमें कामुकता का भय नहीं है। स्थान-स्थान पर मीरा ने इस बात का संकेत भी कर दिया है।

(३) विरह की भावना—मीरा को प्रियतम से मिलने की बहुत उत्सुकता है। वह उसका वियोग सहन नहीं कर सकती। वियोग-जन्य दुःख को नापना सुगम कार्य नहीं होता। यदि कभी स्वप्न में एक क्षण के लिए भी प्रियतम दिखाई दे जाता है तो इससे वियोग-व्यथा और भी तीव्र हो जाती है। स्वप्न का एक चित्र—

सोवत ही पलका में मैं तो, पल लागी पल में पिय आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं, जाग परी पिव ढूंढ न पाए॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिव जागि गमाए।
आज को बात कहा कहौं सजनी, सुपना में हरि लेत बुलाए॥
(मायरा)

फिर तो नींद सर्वदा के लिए चली गई, व्याकुलता बढ़ गई और अंग-अंग क्षीण होने लगा—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
बिनि देख्यां कल नांहि पड़त जिय ऐसी ठानी हो।
अंग छीन व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो॥
अन्तर बेदन बिरह की वह पीड़ न जानी हो।
मीरां व्याकुल विरहणी सुध-बुध विसरानी हो॥

देखिए तो वियोग में मीरा की अवस्था कैसी हो रही है? जब और सखियां अपनी केलि-क्रीड़ा में मस्त हैं तब वह विरहिणी बैठ कर जागती है, और—

'बिरहिन बैठी रंग महल में मोतियन की लड़ पोवै।'

कहां तक प्रतीक्षा करे प्रभु आते ही नहीं—

दरस बिन दूखण लागे नैन।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुं न पायो चैन॥
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटल सुख दैन॥

कौन जानता है मीरा के हृदय की पीर। इस प्रेम की पीड़ा को तो प्रभु का दर्शन ही मिटा सकता है—

हेरी मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय॥
घायल की गति घायल जाने की जिन लाई होय।
दरद की मारी बन-बन डोलूं बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरां के प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सांवलिया होय॥

(४) मिलन—मीरा का प्रेम निरा निराशामय नहीं है, प्रभु से मिलने की उसे आशा बनी रहती है। पिया के देश का वह पता जानती है। यद्यपि उस मार्ग में कठिनाइयां हैं और समय-समय पर प्रिय-मिलन होता भी है, परन्तु थोड़ी ही देर के लिए। परन्तु मीरा की साधना निष्फल नहीं गई, उसे उसका प्रेमी मिल ही गया जिसने उसे अपने हृदय में सर्वदा के लिए छिपा लिया। पिय के आगमन की तैयारी में मीरा को सम्पूर्ण पृथ्वी आनन्दमय भासित हो रही है—

सुनी हो मैं हरि आवन की अवाज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।

मीरा समझती है कि उसका पिया तो उसके पास ही बसता है। यह अन्य सांसारिक पतियों जैसा 'पिया' नहीं है जो विदेश चला जाता है और पत्र लिखने पड़ते हैं। मीरा का पति तो ऐसा है जिसके प्रेम में वह दिन-रात मस्त फिरती रहती है—

मैं गिरिधर रंग राती।
जिनका पिया परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुं आती जाती॥
और सखी मद पी पी माती मैं बिन पियां ही माती॥
प्रेम भठी को मद मैं पीयो छकी फिरूं दिनराती॥

यह जानकर भी मीरा स्थान-स्थान पर सांसारिक स्त्रियों का-सा व्यवहार करती दृष्टिगोचर होती है, और कवयित्री की यही प्रवृत्ति

उसके काव्य को जीवन से सम्बन्धित कर माधुर्य का प्रसार कर देती है। स्त्रियां प्रायः ज्योतिषियों से पूछती हैं कि उनके पति कब लौट कर आवेंगे। मीरा भी पूछती है—

कहो ने जोशी प्यारा, राम मिलन कब होशी।
जो जोशी मोहें प्रभू मिले तो, हीरा जड़ावुं तेरी पोथी।
जो जोशी मोहे प्रभु ना मिले तो, झूठी पड़े तेरी पोथी।।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, राम मिले सुख होशी।।

और अन्त में मीरा की कामना पूरी हुई। मीरा फूली नहीं समाई--

(क) सहेलियां साज घरि आया हो।
बहोत दिनां की जोवती विरहणि पिव पाया हो।।
रतन करूं नेवछावरी ले आरति साजूं हो।

(ख) म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूं मेरे आंणद छाया जी।
रग-रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी।

द्वारिका में रणछोड़ जी की मूर्त्ति से तो मीरा को कोई हटा ही नहीं सका। पिता और पति दोनों के परिवारों से समाचार पहुँचे, सत्याग्रह भी हुआ, किन्तु मीरा की मूर्त्ति सर्वदा के लिए अपने परम-पावन पिय में समा गई जहां से कोई शक्ति उसे अलग नहीं कर सकती थी। मीरा की प्रेम-साधना निष्फल नहीं हुई। उसने अपने अमर प्रियतम का दर्शन पाया और उसके प्रियतम ने उसे गले लगाया। कैसा अनुभूतिपूर्ण होगा वह मिलन!

(५) रहस्यात्मकता—मीरा की उपासना माधुर्य भाव से भरी थी, और माधुर्य भाव में आध्यात्मिक रहस्य आवश्यक है, क्योंकि यह प्रियतम कोई साधारण सांसारिक जीव तो है नहीं। आध्यात्मिकता की भावना से, जहां प्रेम का योग हुआ, रहस्यवाद का जन्म हो जाता है। मीरा के पदों में निर्गुण तथा सूफ़ीमत दोनों की बातें मिलती हैं। त्रिकुटी, सुरत, शून्य महल, निरंजन, सतगुरु आदि का स्थान-स्थान पर प्रयोग है। प्रेम की पीर का वर्णन भी

बड़ा सुन्दर है। विरह का जो वर्णन मीराबाई के पदों में हुआ है वह एक रहस्यवादी का ही विरह है जो आत्मा परमात्मा के प्रति अनुभव करती है। यद्यपि मीरा ने अपने गिरिधर नागर की पति-भाव से उपासना की है फिर भी वह जानती है कि उनके गिरिधर पूर्णब्रह्म, अविनाशी तथा घट-घट में निवास करने वाले हैं। इनकी भक्ति के कारण इनका रहस्यवाद नीरस तथा शुष्क नहीं बना—इसमें कबीर की पहुँच तथा जायसी का प्रेमाभिनय है।

मीरा को 'सुन्न महल' में जाने की सारी क्रिया याद है—

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झांकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊं सुख की सेज बिछाऊंगी।
पिया पलंग जा पौढ़ूंगी मीरा हरि रंग राचूंगी॥

और फिर आनन्द का वर्णन द्रष्टव्य है जो मिलन में प्राप्त होता है तथा जो उस रहस्य की वास्तविक कुंजी है—

सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा, सबहीं सूं न्यारी हो॥
दीपक जोऊँ ज्ञान का, चढ़ूं अगम अटारी हो।
मीरा दासी राम की, इमरत बलिहारी हो॥

रहस्यात्मक भावना का एक और रूप है जिसमें असंभव वस्तुएं होती दिखाई देती हैं किन्तु जब उनका आध्यात्मिक या रहस्यात्मक अर्थ ग्रहण किया जाता है तब युक्ति ठीक बैठती है—

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे।
बिनि करताल पखावज वाजै, अणहद की झणकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूं गावै, रोम-रोम रँग सार रे।
सील संतोष की केसर घोली, प्रेम पीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर, बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक-लाज सब डार रे॥

आत्मा परमात्मा का मिलन, वियोग, निष्ठा, अद्वैतभाव सभी कुछ मीरा के पदों में प्राप्त होता है। यह रहस्य भाव बहुत ही हृदयग्राही है।

स्थान--

'गिरिधर गोपाल' में अनन्य श्रद्धा रखनेवाली मीरा हिन्दी-काव्य में एक उच्च स्थान की अधिकारिणी है। प्रेम की जो सर्वांगीण व्याख्या मीरा के पदों में मिलती है वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मीरा ने इस विषय को समझा और अनुभव किया था। यह प्रेम की व्याख्या इतनी गहरी और तीव्र अनुभूतिपूर्ण है कि पढ़नेवाला द्रवित हो जाता है। मीरा द्वारा—

"अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेल बोई"

वह प्रेम-बेल प्लावित और पुष्पित हुई और उसने मीरा का तो प्रभु से साक्षात्कार कराया ही, भक्त लोगों के हृदय में भी उस प्रिय के प्रति उदात्त एवं मधुर भावों की रमणीय सृष्टि कर दी। मीरा जैसा आत्मसमर्पण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। उसके तो सर्वस्व एक 'गिरिधर गोपाल' हैं, दूसरा कोई है ही नहीं। तनिक देखिए तो उस 'अबला' की हिम्मत—सास, ननद लोगों के उपालंभ से यहां तक कि स्वयं राणा की बातों का विरोध किया पर अपने प्यारे को नहीं छोड़ा। अपना सत्संग, नृत्य, कीर्तन आदि सभी कुछ अपनी रुचि के अनुसार करती रही, कठोर-से-कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हुई और फिर जब तबियत को कुछ अधिक विरोध-सा प्रतीत हुआ तो देश को छोड़ अन्य स्थान पर चली गई जहां उसी पुराने रंग पर और गहरा रंग चढ़ा। उसके संबंधियों को जब अपनी भूल मालूम हुई तो उन्होंने क्षमा-याचना की, सत्याग्रह किये, प्रार्थना सहित वापिस बुलाया परन्तु मीरा तो 'गिरिधर' के घर जा सकती थी और वही किया, कीर्तन करते-करते अपने इस लौकिक शरीर को छोड़ कर प्रभु में सबके देखते-देखते लीन हो गई। धन्य मीरा! और धन्य तुम्हारी प्रेम-साधना!!

काव्य की दृष्टि से मीरा की अन्य कवियों से तुलना करने की चेष्टा की गई है। मीरा इसमें भी कम नहीं रहतीं। महाकवि सूरदास के पदों का-सा लालित्य हमें स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। सूर के प्रेम में कहीं-कहीं विनोद आ जाता है, खिझावट भी है, व्यंग्य भी है किन्तु मीरा के 'गहर गंभीरा' प्रभु का प्रेम भी बहुत गहरा है, सेवा होते हुए भी उसमें कृत्रिमता या

दुरूहता नहीं आने पाई। मीरा ने तो अपना काव्य अपने हृदय के आंसुओं से सींच कर पल्लवित किया था, वह मुरझाता कैसे! सूर-जैसा काव्योत्कर्ष तो मीरा में नहीं मिलेगा। शब्द-चयन अलंकार-विधान, चुभती उक्तियां सूर में ही अधिक मिल सकेंगी, परन्तु मानना पड़ेगा कि हृदय की जो गहराई मीरा के काव्य में है वह सूर में भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं होती।

मीरा का काव्य संत-कवियों से भी प्रभावित हुआ था। रैदास को तो मीरा का गुरु ही कहा जाता है, यद्यपि लोगों का इसमें बहुमत नहीं है। इनसे भी बढ़कर थे कबीर, जिनका आत्मानुभव भी बड़े ऊंचे दर्जे का था। किन्तु मीरा का उद्देश्य तो दूसरा ही था, उसका काव्य तो आत्म-निवेदन से परिवेष्टित है, गिरिधर के आगे वह और किस का ध्यान करती। फिर भी अनेक रहस्यात्मक उक्तियाँ कबीर और मीरा के पदों में मिलती हैं। स्त्री होने के नाते, प्रेम में दीवानी होने के कारण मीरा का काव्य कहीं अधिक सुन्दर बन पड़ा है। जायसी की प्रेम-पद्धति ने भी मीरा को प्रभावित किया प्रतीत होता है। मीरा की प्रेम-व्यंजना बहुत ही प्रभावोत्पादक है। आजकल भी जब आत्म-निवेदन उच्च कोटि को पहुँच जाता है और हृदय की व्याकुलता किसी अज्ञात का परिचय पाने के लिए बढ़ जाती है तो मीरा से ही तुलना दी जाती है। इसी के आधार पर आधुनिक कवयित्री महादवी वर्मा को 'आधुनिक मीरा' कहा जाता है किन्तु वह तन्मयता लाने के लिए श्रीमती वर्मा को न जाने और कितना कुछ करना पड़ेगा।

मीरा की रागात्मक भावुकता उनकी कविताओं के बीच विराजमान है, उसका स्पंदन आज भी मधुर गायन-संयुक्त होकर रोमांचित कर देता है, उसका कल-कल निनाद मन्दाकिनी के समान पाठकों के हृदय को परिप्लावित कर देता है। मीरा की जीवनी, उनकी काव्य-कृतियाँ, उनका हृदयग्राही वर्णन, उनका उन्माद, आत्मविस्मृति, मिलन का आनन्द सभी कुछ प्रभावोत्पादक हैं। मीरा के पदों का अनुवाद विदेशी भाषाओं में भी हुआ है। हिन्दी के काव्य-साहित्य में तो मीरा का स्थान प्रमुख कलाकारों में है।

बिहारी

आविर्भाव-काल—

कविवर बिहारी रीतिकाल के अन्तर्गत आते हैं। "इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना नहीं। उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदय-ग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगार-रस के अंतर्गत बहुत सुन्दर मुक्तक-रचना हिन्दी में हुई। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी, जिससे अनुभव के बहुत-से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये।"—(शुक्ल जी)। हिन्दी की इस प्रवृत्ति के लिए उस समय में प्रचलित विशेष अवस्थाओं से हमें अवगत होना चाहिए। हिन्दी के सौष्ठव-सुरुचिपूर्ण भक्तिकाल से किस प्रकार रीतिकाल की परम्परा चली, और उसका देश पर क्या प्रभाव पड़ा, इससे परिचित होना आवश्यक है।

(१) राजनैतिक परिस्थितियां—देश में मुगलों का साम्राज्य दृढ़ हो गया था। अकबर की नीति ने देश में व्यवस्था ला दी थी। अब कोई ऐसी शक्ति अवशिष्ट नहीं थी जो मुगलों से लोहा ले सके। राजपूत जाति अपनी बिखरी शक्ति का बार-बार उपयोग करने के उपरान्त पराजय स्वीकार कर चुकी थी। जहांगीर और शाहजहां के समय में कुछ गृह-कलह चलती रही, किन्तु उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। मुग़ल-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था। प्रसिद्ध कलाविद् शाहजहां की कलाप्रियता ने कला के क्षेत्र में अभिवृद्धि का अवसर प्रदान किया। 'बिहारी-सतसई' की रचना का अधिकांश शाहजहां के समय में ही लिखा गया। बिहारी जयपुर के राजा जयसिंह के आश्रित

थे और उन्हीं के संरक्षण एवं उत्साह-वर्द्धन में सतसई की रचना हुई। देश की राजनैतिक परिस्थिति से बिहारी बहुत-कुछ प्रभावित हुए। राजा लोग युद्ध की कथा भूल चुके थे, वे विश्राम की निद्रा में शृङ्गार का स्वप्न देख रहे थे। यह शृङ्गार वीरगाथाकालीन शौर्यसंयुक्त नहीं था, वरन् कर्त्तव्य-विहीन विलासिता थी। उनके आश्रित कविगण भी उनकी 'जी हजूरी' में लगे हुए थे और उसी प्रकार की रचनाएं करते थे जिनसे उनके आश्रयदाताओं का मनोविनोद हो तथा शृङ्गारिक भावना में उत्तेजना प्राप्त हो। कवि की कविता का उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं की काम-वासनाओं की परितुष्टि रह गया था। राधा और कृष्ण का आश्रय लेकर रीतिकालीन कवियों ने सर्वथा शृंगार का वर्णन किया। इस प्रवृत्ति से निश्चय ही देश को क्षति पहुंची, और एक विशेष प्रकार की भावना जागृत हो गई जो देश के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को छोड़कर विलासिता की ओर अग्रसर हुई।

(२) सामाजिक अवस्था—राजनैतिक स्थिति पर ही सामाजिक वातावरण निर्भर रहता है। देश में धन-धान्य की वृद्धि थी, शासन-व्यवस्था ठीक हो जाने से सर्वत्र शान्ति थी और दरबारों का वातावरण विलासितापूर्ण था। इत्र, तेल, पान, सुगन्धित द्रव्यों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार और प्रचार होता था और आभूषणों से तो सम्राट्, राजे-महाराजे, मुसाहिव तथा अन्य दरबारी लदे ही रहते थे। स्त्रियों को विशेष रूप से अलंकृत किया जाता था। आज भी हम जब मुग़ल-सम्राटों की कहानियां पढ़ते हैं, उनके प्रासादों को देखते हैं तो उनके विलासमय जीवन का पता चल जाता है। स्नानागारों में डाले गये इत्र और पुष्पों का तो कोई ठिकाना ही न था। जो सम्राट् का हाल था वही अधीनस्थ राजाओं का, क्योंकि उनके लिए अब विलास के अतिरिक्त और कुछ कार्य रह ही नहीं गया था। राज-दरबारों से संबंधित कलाकारों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त होती थी। देश में समृद्धिशाली व्यक्ति भी बहुत थे। किन्तु साधारण समाज का चित्र इतना आकर्षक नहीं था। ऐसा पता लगता है कि शोषण का आरम्भ बहुत समय से हो चुका था और उस युग में भी दलित, मजदूर और किसान-वर्ग की दशा हीन ही थी।

उस समय के समाज में दोनों प्रकार की अवस्थाएँ थीं। जहां तक काव्य का संबंध है उसका क्षेत्र उच्च, विलासी समाज तक ही सीमित था। हम कह नहीं सकते कि किसान, मजदूर और अन्य दलित समाज का क्या हाल था, काव्य से उनका कितना संपर्क था और कवि लोग उनके अवस्था-चित्रण में कितना मनोयोग देते थे। इस दृष्टि से भक्तिकालीन रचनाएं अपेक्षाकृत सार्वजनिक हैं—संत और सगुण भक्त-कवियों ने जनसाधारण के लिए लिखा, किन्तु शृङ्गारकालीन, राज्याश्रित कवियों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। कभी-कभी निम्न वर्ग की नायिकाओं का भी वर्णन मिलता है किन्तु वह भी कामुकता के दृष्टिकोण से उच्चवर्ग की विलासिता में नवीनता का पुट देने के लिए।

(३) धार्मिक दशा—भक्तिकाल हिन्दी का स्वर्णयुग कहा जाता है। राम और कृष्ण की भक्ति-संबंधी कविता में धार्मिक भावना ही काम करती थी। यद्यपि उस काल में भी गोपियों तथा राधा के साथ कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया किन्तु यह ध्यान सर्वदा रखा गया कि कृष्ण लीला करते हुए भी परब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं। वे मनुष्य का शरीर धारण करके, धर्म का उत्थान करने के लिए, अनेक प्रकार के चरित्र करते हैं। इसके पश्चात् राधा और कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका का रूप दे दिया गया। अत्यन्त विलासी व्यक्तियों के सदृश उनका वर्णन किया गया। भक्तिकालीन उच्च भावना का सर्वथा लोप हो गया। केवल नाम के ही राधाकृष्ण रह गये। अन्यथा ऐसी कोई बात न रही जो उनके ईश्वरत्व को सिद्ध कर सके।

इस काल में सन्त और महन्तों के बड़े-बड़े अखाड़े स्थापित हो चुके थे, जिनमें से कुछ अब तक भी चल रहे हैं। साधारण जनता की श्रद्धा भी इन लोगों के प्रति बहुत थी, और मन्दिरों में अपार धन चढ़ाया जाता था। धार्मिक मठों तथा मन्दिरों के कार्यों में बहुत-कुछ व्यय होता था। हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान स्थापित हो चुके थे और बहुत से लोग तीर्थ-यात्राओं पर जाते थे। वैसे लोगों के हृदयों में राम और कृष्ण-संबंधी वही श्रद्धा थी जिसे भक्त

कवियों ने प्रचारित करने के प्रयत्न किये थे। किन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि भावना के स्थान पर दिखावे की प्रवृत्ति अधिक आ गई थी। सच्चे भक्तों के स्थान पर कुछ दिखावे के भक्त भी आ गये थे। जैसा अन्य क्षेत्रों में वैसा ही धार्मिक क्षेत्र में भी कृत्रिमता का आभास मिलता है।

(४) साहित्यिक गतिविधि—यह युग कला के उत्थान का था। चित्र-कला, वास्तुकला तथा संगीत में भी बहुत-कुछ उन्नति हो रही थी। राजा और सामंतों की विलासिता के हेतु कलाओं की मधुर सृष्टि हो रही थी। सभी के अन्तर्गत मनोविनोद का ध्यान अधिक रहता था। शिकार, पतंगबाजी, शतरंज, जलक्रीड़ा की तरह साहित्य भी विलास की सामग्री बन गया था। जिस कविता से मनोविनोद न हो, तबियत खिल न उठे, वह कविता ही क्या ? धार्मिक भाव तो कम हो ही चुके थे, साहित्य में कृत्रिमता और कल्पना प्रधानता ग्रहण कर रही थी। शृंगारप्रियता बहुत-कुछ बढ़ गई थी और इसी कारण यह संपूर्ण काल 'शृंगार-काल' के नाम से प्रसिद्ध है।

शृंगार का उद्गम तो संस्कृत-साहित्य से हुआ और रीति-परम्परा भी वहीं से आरम्भ हुई। काव्यशास्त्रियों ने अनेक साहित्यिक सम्प्रदायों की योजना की, जैसे रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय आदि। अनेक रीति-ग्रंथों का निर्माण भी हुआ, अलंकार और छंदों में बाढ़ आई तथा नायक-नायिका-भेद तो अगणित हो गये। नखशिख, ऋतुवर्णन, बारह-मासा आदि का अत्यधिक व्यवहार भी इसी के साथ हुआ। इस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चली कि रस, छंद, अलंकार, नायक-नायिका-भेद पर नित्य नये ग्रंथ लिखे जाने लगे और उनके उदाहरणों में काव्य का स्वरूप परिवेष्टित किया जाने लगा। इन लोगों में साहित्य-शास्त्री बहुत कम थे, अधिकतर कवि ही थे। अतएव यह परिपाटी कुछ भ्रामक रही और साहित्य का स्वाभाविक प्रस्फुटन नहीं हो पाया। मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' आदि से लोगों का परिचय बढ़ने लग गया। यह तो मानना ही पड़ेगा कि रीति-ग्रंथों को लिखकर उन लोगों ने साहित्य का कुछ भी उपकार नहीं किया और काव्य के रूप को

समझाने में भी कोई विशेष सहायता नहीं की।

इस समय के साहित्य में कुछ प्रवृत्तियां परिस्थितियों के कारण स्वतः आ गई थीं। यह समय एक प्रकार से काव्य-प्रतियोगिता का था। राजा उसी कवि को आश्रय देते थे जिसकी बुद्धि और पांडित्य से वे प्रभावित हो जाते थे। अन्य किसी अधिक विलक्षण कवि के आने से पदच्युत होने का भय उन्हें लगा रहता था। कवियों के अन्दर विलास-वृत्ति का होना आवश्यक था; क्योंकि यदि वे राजाओं का मनोरंजन नहीं कर सके, दरबार की शान नहीं बढ़ा सके, झूठा गुणगान नहीं कर सके तो उनके काव्य की सार्थकता ही क्या ? कहने का ढंग चमत्कारपूर्ण होना आवश्यक था, क्योंकि ऐसा करने पर ही आश्रयदाताओं का ध्यान उनकी ओर बना रह सकता था। उनके द्वारा काव्य की अनेक रूढ़ियों का प्रतिपादन होता था तथा विभिन्न प्रकार के अलंकार, छंद आदि का प्रयोग किया जाता था। भावपक्ष की ओर इतना ध्यान न था; रस-प्रवाह के स्थान पर रसाभास अधिक वांछित था—फलतः रस के मीठे छींटे ही पर्याप्त समझे जाते थे।

यह समय प्रबन्ध-काव्य-रचना के लिए उपयुक्त नहीं था। श्रृंगार के वातावरण में लम्बे प्रबन्ध को कौन सुनता और उसमें इतना परिवर्तन, आडम्बर, विचित्रता आदि कैसे संभव होती। यह काल तो मुक्तक-रचना के लिए ठीक था। एक दोहा कहा और वाहवाही लूटी। साथ ही कुछ सूक्तियां भी मिलती हैं जो चमत्कारपूर्ण होती हैं। कुछ लोग नीति-संबंधी कविता भी करते थे। दोहा, कवित्त, सवैया, आदि छंद प्रमुख रूप में प्रयुक्त होते थे। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि श्रृंगार-काल में काव्य का उत्कर्ष हुआ ही नहीं। पं. शुक्ल ने तो 'प्रबन्ध-वनस्थली' के साथ तुलना करते हुए मुक्तक को एक 'गुलदस्ता' कहा है।

रीतिकाव्य में हमें विभिन्न वस्तुएं देखने को मिलती हैं—पांडित्य-प्रदर्शन, चमत्कारप्रियता, श्रृंगारिकता, रूढ़ि-परिपालन, विनोद, अनेक-रूपता आदि। बिहारी पर इन सभी प्रवृत्तियों की छाप स्पष्ट है।

जीवन-वृत्त—

प्रसिद्ध 'बिहारी-सतसई' के रचयिता का जीवन-वृत्त अभी समुचित रूप से सामने नहीं आया, कुछ सुनी-सुनाई बातों से तथा उनके दोहों के ऊपर आधारित सामग्री से उनके संबंध में कुछ बातें मिलती हैं, और प्रचलित जनश्रुतियां तो हैं ही जिनके सहारे कवि की कुछ विशेषताओं से परिचय हो सकता है।

(१) महाराजा जयसिंह—इसमें तो कोई संदेह नहीं कि बिहारी आमेर दरवार के राजकवि होकर बहुत समय तक वहां रहे। सतसई की रचना भी—

'हुकुम पाइ जयसाहि कौ'

के अनुसार हुई। महाराज जयसिंह 'जयसाह' भी कहलाते थे क्योंकि मुग़ल दरबार ने उन्हें इसी नाम से स्वीकार कर रक्खा था। उन्हें मिर्ज़ा की उपाधि भी मिल चुकी थी। इस प्रकार इनका पूरा नाम—मिर्ज़ा राजा जयसाह था। वह कहानी तो सबको विदित ही है कि किस प्रकार निम्न दोहे ने अपना प्रभाव दिखाया और सदा के लिए जयसिंह और बिहारी का संबंध स्थापित किया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहा जाता है कि महाराज जयसिंह ने सतसई पर यथेष्ट पारितोषिक दिया, कुछ लोग तो प्रति दोहा एक अशर्फ़ी दी बताते हैं। इससे सिद्ध है कि सतसई महाराज जयसिंह के जीवन-काल में ही समाप्त हुई। राजा जयसिंह सं. १७२४ में मरे अतएव बिहारी उस समय के आसपास तक रहे होंगे। कुछ लोग सं. १७२० तक उनका विद्यमान रहना वताते हैं।

(२) अन्य परिचित—बिहारी का आगरे जाना वताया जाता है। यह घटना सं. १६७५ के वाद की है क्योंकि तभी शाहजहां का बिहारी से प्रथम परिचय हुआ। दरवार में रहकर रहीम तथा अन्य राजाओं से भी परिचय हो गया। रहीम ने उनकी काव्य-मर्मज्ञता से प्रभावित

होकर उन्हें पुरस्कार भी दिया। सं. १६७८ में शाहजहां की स्थिति विगड़ गई और तभी बिहारी वहां से अन्यत्र चले आये।

(३) कुलपति मिश्र—यह महाशय विहारी के भानजे थे। एक दोहे में उन्होंने 'मातामह' के नाम उल्लेख किया है—

"कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाइ॥"

इसी के आधार पर विद्वान् केशवदास को बिहारी का पिता मानते हैं। केशवदास अपने को 'केशवराय' भी कहते थे—

तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमंद।
करी ज्ञान गीता प्रगट श्री परमानंद कंद॥

इस पर कुछ लोगों ने आपत्ति की है और केशव तथा विहारी में गुरु-शिष्य-संबंध की कल्पना की हैं, जो भ्रामक है।

(४) ओरछा—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित एक लेख के आधार पर बिहारी का अपने पिता के साथ ओरछा जाना पाया जाता है। और वहीं महात्मा नरहरिदास से इनका संपर्क हुआ। ओरछा रहकर ही बिहारी ने काव्य-ग्रंथों, संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया। केशवदास के काव्य-ग्रंथों का विशेष अध्ययन किया गया।

(५) ब्रज की ओर—बिहारी के पिता का ब्रज की ओर आना बताया जाता है। वहां ही कवि के अध्ययन तथा संगीत-अभ्यास का कार्य चला। बिहारी का विवाह भी मथुरा में ही हुआ, और यह अपनी ससुराल में रहे। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी इनका ससुराल-संबंधी अनुभव अच्छा प्रतीत होता है।

अब कुछ सतसई के दोहों पर, जिनसे जीवन-संबंधी सामग्री उपलब्ध होती हैं, दृष्टिपात कीजिए—

जन्म संवत्—संवत जुग[२] सर[५] रस[६] सहित, भूमि[१] रीति जिन लीन्ह।
कातिक सुदि वुध अष्टमी, जन्म हर्माहि विधि दीन्ह॥
(१६५२)

जन्म-स्थान, बाल्यकाल तथा ससुराल—

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुंदेले बाल ।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा वसि ससुराल ॥

पर कुछ विद्वान् इस दोहे को विहारी-कृत नहीं मानते ।

केशव से संबंध, जाति, ब्रज में जाना—

प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ ॥

जिस प्रकार 'केसव केसवराय' का प्रयोग हुआ है उससे पिता होना सिद्ध नहीं होता, गुरु हो सकते हैं—अब ये 'केसव', प्रसिद्ध कवि केशव हों या अन्य कोई 'केशव' जो विहारी के गुरु रहे हों, निश्चय करना असंभव है।

जम करि मुंह तरहरि पर्‌यो, इहिं धरहरि चितलाउ ।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥

'नरहरि' शब्द से महात्मा नरहरिदास जी का स्मरण किया गया है जिनका बिहारी द्वारा गुरु-रूप में स्वीकार करना माना जाता है।

मिर्जा राजा जयसाह के यहाँ राज्याश्रय—

रहति न रन जयसाहि मुखु लखि लाखनु की फौज ।
जाँचि निरा खरऊ चलै, लै लाखनु की मौज ॥
(जयसाह की वीरता और दान का वर्णन)

धर धर हिन्दुनि तुरकिनी देत असीस सराहि ।
पतिन राखि चादर चुरी तैं राखी जयसाहि ॥
(जयसिंह जी द्वारा दक्षिण की कूटनीति)

यों दलकोढ़ बलख ते तैं जयसाह भुआल ।
(बलख की ऐतिहासिक चढ़ाई का प्रसंग)

भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियत भाल ।
(जयसिंह से साक्षात्कार होने की कठिनता)

मिर्जा राजा जयसाह के साथ कवि का बहुत दिनों तक संबंध रहा और उनके आश्रय में रहते हुए ही कवि ने ऐहलौकिक लीला समाप्त की।

सतसई समाप्त करने का समय—

संवत ग्रह[६] ससि[१] जलधि[७] छिति[१], छठि तिथि बासर चंद।
चैत मास पख कृस्न में, पूरन आनँद कंद॥

कुछ लोग इसे कृष्णलाल की टीका का समय मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलाल (निरंजन कृष्ण) बिहारी के गोद लिये पुत्र थे।

बिहारी का अपनी ससुराल में रहना—

आवत जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरान।
घरहँ जँवाई लौं घट्यो, खरौ पूस दिनमान॥

इस थोड़ी-सी सामग्री के आधार पर विदित होता है कि बिहारीलाल ग्वालियर में पैदा हुए। इनके पिता का नाम 'केसव' होना संदिग्ध है, वे इनके गुरु हो सकते हैं और प्रसिद्ध कवि केशव से पृथक् कोई अन्य विद्वान्। बिहारी ने संवत् १६५२ में जन्म धारण किया। शुक्ल जी ने इनका जन्म संवत् १६६० के लगभग लिखा है। बिहारी-विहार की भूमिका में लिखित दोहे के आधार पर इनका जन्म १६५२ माना गया है यद्यपि इसकी प्रामाणिकता के संबंध में संदेह बराबर बना हुआ है।

बिहारी स्वयं कहते हैं कि उनका जन्म द्विजराज कुल में हुआ। किन्तु फिर भी कुछ लोग उन्हें 'भाट' कहते हैं। इसके प्रमाण में उनके पिता का 'केसवराय' नाम उपस्थित किया जाता है। प्रथम तो 'केसवराय' के पिता होने में ही संदेह है दूसरे 'राय' एक उपाधि है जिससे 'भाट' होना सिद्ध नहीं होता। मथुरा में विवाह होने के आधार पर बिहारीलाल जी को चौबे माना गया है। मथुरा में चौबों की बस्ती अब भी बहुत अधिक है। राधाकृष्ण-ग्रंथावली में इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। प्रमुख विद्वान् बिहारी को माथुर मानते हैं। 'रत्नाकर' जी ने भी इस मत को पुष्ट किया है। उनके दोहों में प्रयुक्त कुछ शब्द भी इसी ओर संकेत करते हैं।

जन्म के उपरान्त ये अपने पिता के साथ ओरछा गये जहाँ महात्मा नरहरिदास जी के सान्निध्य में अध्ययन किया। कुछ समय उपरान्त बिहारी

के पिता ब्रज की ओर आ गये और वहीं बिहारी का विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् बिहारी अपनी ससुराल में ही रहने लगे।

कहा जाता है कि शाहजहां के दरबार में जाने पर इनकी वार्षिक वृत्ति बँध गई और रहीम आदि प्रसिद्ध साहित्यिकों से इनका परिचय हुआ। रहीम की प्रशंसा में यह दोहा भी देखिए—

गंग गोंछ मोछें जमुन, अधरनु सरसुरि-रागु।
प्रगट खान खानानु कैं, कामद बदन प्रयागु॥

प्रसन्न होकर रहीम ने बिहारी को पुरस्कृत किया। ऐसा विदित होता है कि बिहारी के गुरु ने शाहजहां से परिचय कराया था और तब उन्हें आगरा जाने का निमंत्रण मिला—

श्रीनरहिं नरनाह कौं (शाहजहां) दीनी बांह गहाइ।
सुगुन-आगरैं आगरैं, रहत आइ सुख पाइ॥

आगरे में इन्हें काफ़ी सुख मिला किन्तु शाहजहां का जहांगीर से मनमुटाव होने के कारण बिहारी राज्याश्रय से अलग हो गये।

कहा जाता है कि ये अनेक दरबारों में जाया करते थे। जोधपुर, बूंदी, जयपुर इनका आना-जाना बना रहता था। भरतपुर भी यह गये थे ऐसा कहा जाता है। बहुत से राजाओं ने इनकी पेन्शन नियत कर दी थी क्योंकि शाहजहां के उत्सव में सम्मिलित बहुत से राजा इनकी प्रतिभा से प्रभावित हो चुके थे। एक बार पेन्शन लेने के लिए ही ये आमेर पहुँच गये और तभी इनकी पीयूषवर्षिणी वाग्धारा से जयसिंह पर भारी प्रभाव पड़ा। आग्रह-पूर्वक बिहारी को वहां रखा गया। और राजा जयसिंह के प्रोत्साहन से ही सतसई समाप्त हुई।

बिहारी ने खूब विद्याध्ययन किया था। ज्योतिष, गणित, पुराण, इतिहास आदि के भी अच्छे ज्ञाता थे। बिहारी एक रसिक जीव थे किन्तु उनका संबंध नागरिक रसिकता से ही था। ऐसा भी विदित होता है कि बिहारी पर दुर्दिन भी आये, रसिकता छोड़कर भगवान् की शरण भी ली—'जिहि तिहिं भांति डरचौ रह्यौ, परचौ रहौं दरबार'। जीवन में उन्हें अनेक

अनुभव हुए, बहुत से लोगों से मिले, अनेक राजाओं के दरबार का रंग देखा।

इनकी निधन-तिथि सं० १७२० मानी जाती है। यह तिथि सतसई की समाप्ति से एक वर्ष पश्चात् की है।

रचना—

बिहारी का अध्ययन करते समय सबसे अधिक सुविधा या असुविधा इस बात की समझिए कि इनका एक ही ग्रन्थरत्न उपलब्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि दोहे तो इन्होंने बहुत से और भी बनाये थे किन्तु सब को चुनकर 'सतसई' का निर्माण किया गया। कुछ भी हो इनकी प्रसिद्धि को बढ़ाने में 'सतसई' नाम का यह एक ग्रंथ ही यथेष्ट है और इसके आधार पर बिहारी की गणना महान् कवियों में की गई है। वैसे तो लोगों का कहना है कि इनका एक-एक दोहा ही एक अलग कृति है और इस प्रकार इनकी ७०० से अधिक कृतियाँ हैं। श्री ग्रियर्सन ने ठीक ही लिखा था "सतसई के विषय उपस्थित करने को सारी सतसई उद्धृत करनी पड़ेगी क्योंकि प्रत्येक मुक्तक का अपना एक विषय है।"

(१) रचनाकाल—सतसई का रचनाकाल अनेक वर्षों में चलता प्रतीत होता है। इस संबंध में एक बात विचार करने योग्य है। 'सतसई' के संग्रह की ओर बिहारी का ध्यान वास्तविक रूप में तब गया जब उनकी कविता की ओर महाराज जयसिंह का ध्यान आकर्षित हुआ। कहते हैं जब 'नहिं पराग' वाला दोहा महाराज के पास पहुँचा तो वे महल से बाहर निकले और बिहारी को 'अंजुरी भर' मोहरें दीं। साथ ही आदेश दे दिया कि यदि इसी प्रकार के दोहे बना लाया करोगे तो तुम्हें प्रति दोहा एक मोहर मिलेगी। दोहे बनाये गये और उनकी संख्या के अनुसार ही मोहरें प्राप्त की गईं। इसका अभिप्राय यह होता है कि सतसई में संगृहीत दोहे बनाने का कार्य तब आरम्भ हुआ जब बिहारी अपनी वार्षिक वृत्ति लेने सं. १६९१–९२ में पहुँचे। उसी समय महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता महारानी के प्रेम में मुग्ध थे और इसी घटना के पश्चात् बिहारी को आमेर के राजकवि का

पद मिला। सतसई की समाप्ति का समय इस प्रकार दिया गया है—

सम्वत ग्रह शशि जलधि छिति (१७१९)।

इसके साथ ही महाराज जयसिंह का समय सं. १७२४ का है। इन दोनों प्रसंगों से सिद्ध होता है कि सतसई का आरम्भ-काल सं. १६९२ तथा समाप्ति-काल १७१९ है। यह हो सकता है कि कुछ दोहे पहले लिखे गये हों और बाद में सम्मिलित किये गये हों, किन्तु ग्रंथ का निर्माण-काल यही मानना उचित है।

(२) परम्परा—'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत के 'सप्तशती' और 'सप्तशतिका' शब्द के रूपान्तर हैं, जो 'सात सौ पद्यों' का संग्रह होता है।‡ अनेक स्तोत्र और भक्ति के ग्रंथ, शतसहस्रनाम, सप्तशती आदि थे ही। कालान्तर में शृंगार की मुक्तक रचना भी इसी आदर्श पर की जाने लगी। बिहारी से पूर्व दो 'सप्तशती' प्रसिद्ध थीं—एक संस्कृत की, दूसरी प्राकृत की। संस्कृत की 'आर्या-सप्तशती' का प्रणयन श्री गोवर्धनाचार्य ने किया था। प्राकृत की 'गाथा-सप्तशती' सातवाहन द्वारा संगृहीत की गई। ये दोनों 'सप्तशती' उसी आदर्श को उपस्थित करती हैं जिसका ग्रहण हिन्दी के प्रथम सतसईकार बिहारी द्वारा हुआ। काव्य-शास्त्र का विवेचन करने वाले अनेक आचार्यों ने इन सप्तशतियों से उद्धरण दिये हैं। इन सप्तशतियों के अतिरिक्त एक 'शतक' और है जिसके रचयिता अमरूक हैं।

वैसे तो सप्तशतियों की प्रथा और भी प्राचीन है। हाल की सप्तशतिका पांचवीं शताब्दी की रचना है। ५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक अनेक सप्तशती, शतक और पंचाशिका बनीं। इनकी एक सूची डा. भटनागर ने अपने 'बिहारी : एक अध्ययन' में प्रस्तुत की है। इनमें प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत तीनों के ग्रंथ सम्मिलित हैं। इन संग्रहों में अनेक विषय हैं। जैसे—स्तुति, नीति, वैराग्य आदि। शृंगार-संबंधी उपर्युक्त तीन ही संग्रह हैं जिनका बिहारी ने अच्छा उपयोग किया।

‡ पद्मसिंह शर्मा—बिहारी की सतसई।

हिंदी में सतसइयों का आरंभ बिहारी से पहले ही हो चुका था किन्तु उनका क्षेत्र नीति, भक्ति, स्तुति आदि तक सीमित था। तुलसी-सतसई, रहीम-सतसई नाम वाले कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। हां, शृंगार-विषयक सतसई सर्वप्रथम बिहारी ने ही प्रस्तुत की। बिहारी-सतसई का निर्माण हो जाने पर कवि-समुदाय उसकी प्रसिद्धि और प्रचार से बहुत प्रभावित हुआ और बाद में अनेक सतसइयों की रचना की गई। जैसे—विक्रम-सतसई, शृंगार-सतसई, मतिराम-सतसई, वृन्द-सतसई। कुछ लोग तो सतसई से आगे बढ़कर 'नौसई' 'हजारा' और 'ग्यारहसई' भी लिखने लगे। आज के युग में भी लोगों का ध्यान सतसई की ओर है जैसे—साहित्य में प्रसिद्ध वियोगी हरि की 'वीर-सतसई', चतुर्भुजदास चतुर्वेदी-कृत 'चतुर्भुज-सतसई' आदि।

(३) आधार-ग्रंथ—इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहारी ने अपनी पूर्ववर्ती शृंगारिक कृतियों को अवश्य पढ़ा होगा। शर्माजी का कहना है कि तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि उक्त तीनों ग्रन्थ, सतसई की रचना करते समय बिहारी के पक्ष में थे। सतसई के अनेक दोहे उक्त ग्रन्थों की सूक्तियों के आधार पर बने हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी ने अंधानुकरण नहीं किया है, प्राचीन भावों में यथास्थान सुधार भी किये हैं। पंडित पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में—'बिहारी इस मैदान में अपने इन आदर्श महारथियों से किसी मौके पर एक इंच भी पीछे नहीं रहे हैं। यही नहीं, अनेक स्थानों पर इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। कहीं-कहीं तो इन्हें मंजिलों पीछे छोड़ गये हैं। कहीं उनसे मजमून छीन लिया है तो कहीं संस्कार कर दिया है, कहीं काया पलट दी है तो कहीं जान डाल दी है। . . . .मजमून चुराया नहीं, छीन लिया है।' अपने 'सतसई-सौष्ठव' में इसको स्पष्ट करने के लिए कुछ सुन्दर उदाहरण दिये हैं और उनकी तुलनात्मक आलोचना द्वारा बिहारी के उत्कर्ष और काव्य-प्रतिभा को बताया है। पहले गाथा से कुछ सादृश्य देखिए—

गाथा—जाव ण कोस विकासं पावइ ईसीस मालईक लिआ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥

यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका ।
मकरन्द-पानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥

अब विहारी का दोहा सुनिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल ।
अली कली ही तें बंध्यो आगे कौन हवाल ॥

साथ ही 'आर्या' और 'भ्रमरोपालम्भ' के उदाहरण देते हुए दिखाया है—एक नहीं अपने से पहले तीन महाकवियों द्वारा वर्णित भाव में इस प्रकार की चमत्कारयुक्त नूतनता, एक निराला बांकापन पैदा कर देना बिहारी का ही काम है, और यह इसी का प्रताप है कि उल्लिखित आदर्श पद्यों के मुकाबले इस दोहे ने कहीं अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है।

एक और—

गाथा—फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम् ।
संमीलिअ दाहिणअ तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ॥

स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवतं प्रेक्षिष्ये ॥

विहारी—वाम बाहु फरकत मिलें, जो हरि जीवनमूरि ।
तौ तोही सों भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ॥

एक उदाहरण आर्या सप्तशती से—

आर्या—आयासः परहिंसा वैतंसिक सारमेय ! तव सारः ।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः ॥

शिकारी कुत्ते के स्थान पर पक्षी को सम्बोधित करते हुए विहारी ने कहा—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख विहंग विचार ।
बाज ! पराये पानि पर तू पंछीहि न मार ॥

'आर्या' की अन्योक्ति का लक्ष्य कुलीन सेवक है, तो दोहे की अन्योक्ति

का लक्ष्य कोई सर्वत्रगति, पर अनर्थकारी गुणवान् मुसाहिब है। फिर उपदेश भी कितने मधुर शब्दों में कितने अच्छे ढंग से दिया गया है।

संस्कृत के अनेक अन्य कवियों से बिहारी को सामग्री प्राप्त हुई जिस पर बिहारीत्व की छाप लगा दी गई और वे बिहारी-साहित्य का ही अंग बन गये।

(४) दोहों का क्रम—विभिन्न टीकाओं में कई क्रम देखने में आते हैं। पता नहीं लगता कि कवि ने अपनी सतसई का क्या क्रम रखा होगा। इस क्रम-विभाजन के मूल में टीकाकारों की कुछ ऐसी धारणा है कि बिहारी ने किसी क्रम का अनुगमन अवश्य किया होगा। अनेक वर्षों के परिश्रम के बाद 'रत्नाकर' जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सतसई के दोहों में दस-दस दोहों के अनन्तर एक दोहा नीति-सम्बन्धी या विनय-सम्बन्धी रखा गया है। कुछ पहले की टीकाओं में यह क्रम लक्षित भी होता है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यह क्रम दोहों में स्थापित क्यों किया गया। दोहे तो समय-समय पर विभिन्न विषयों को लेकर लिखे गये होंगे और ७०० हो जाने पर सतसई पूर्ण हो गई होगी। दोहों की संख्या १४०० होना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। वैसे तो दोहों की संख्या भी निश्चित नहीं है। बिहारी सतसई के अनेक संस्करणों में इनकी संख्या अलग-अलग है। ७०० दोहे तो अवश्य ही प्रत्येक संस्करण में हैं। कहीं-कहीं ४, ५ अधिक और कहीं ३५-४० तक अधिक हो गये हैं। संभव है बिहारी के नाम पर कुछ दोहे मिला दिये गये हों।

टीकाकारों द्वारा क्रम-स्थापन की चेष्टा हुई है। कुछेक ने तो विषय-विभाजन द्वारा यह कार्य करना चाहा है।

कुछ अन्य टीकाकारों ने 'सतसई' को एक ग्रंथ मान कर दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। अनवर-चन्द्रिका में संस्कृत-काव्य-ग्रन्थ की तरह बिहारी-सतसई को १६ प्रकाशों में विभाजित किया है, जैसे—शिख-नख-वर्णन, रूपगर्विता, मद्यपान-वर्णन, नव-रस,

अन्योक्ति-वर्णन आदि। कुछ अन्य टीकाओं में भी यह क्रम है।

इस प्रकार विषय-विभाजन की दृष्टि से दोहों का क्रम निश्चित करने की चेष्टा की गई है। वैसे तो दोहों का वर्गीकरण बहुत ही कठिन है, फिर भी कुछ साधारण रूप में हम कुछ बातें स्पष्ट देख पाते हैं। सतसई का बहुत-सा अंश तो शृंगार के अन्तर्गत आ जाता है—संयोग, केलिक्रीड़ा, वियोग, नायिका आदि सभी कुछ तो शृंगार में हैं। दूसरा शान्त रस है जो कवि के अनेक भक्ति और नीति-सम्बन्धी भावों का द्योतक है। प्रकृति-चित्रण भी स्थल-स्थल पर हुआ ही है। परिचयात्मक—कुछ अपने तथा कुछ अपने आश्रयदाताओं के दोहे भी मिलते हैं।

काव्य-समीक्षा—

केवल ७०० दोहे ही लिख कर बिहारी ने अपूर्व ख्याति और सम्मान प्राप्त किया है। काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि में बिहारी अत्यन्त उच्च कोटि के कवि सिद्ध हुए हैं। उनके एक-एक दोहे का विश्लेषण किया गया और उसमें सन्निहित काव्य-गुणों को प्रकाश में लाया गया है। आचार्य शुक्ल का कहना है, "उनका यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र में इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं।"

(१) प्रेम-दिग्दर्शन—बिहारी का ग्रंथ शृंगार-रस का उत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसमें प्रेम के युगल पक्ष का चित्रण है और दोनों बड़ी ख़ूबी के साथ चित्रित हुए हैं। प्रेम का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत होता है और सूर तथा तुलसी की रचनाओं में इस 'प्रेम' का विस्तार लगभग सम्पूर्ण सम्बन्धों में मिलता है किंतु बिहारी का संयोग-पक्ष नायिका-भेद के दायरे में ही सिमटा हुआ है। हाँ, अपनी कल्पना के आधार पर एक संकुचित सीमा भी बहुत चमत्कृत बना दी गई है। प्रिय से मिलने पर एक प्रकार का अल्हड़पन,

मस्ती और विनोद का आ जाना स्वाभाविक है। कैसा सुन्दर चित्रण है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाइ ।।

मुरली चुराने का पूरा दृश्य सामने खींच दिया है। मुरली चुराने का उद्देश्य, उसके रखने का स्थान, लाल का मुरली के लिए खोज करना, चोर का पता पा जाना, उससे पूछना, उसका कसमें खाना, मज़ाक बनाना, मधुरता का अनुभव करना, भौंह और आंखों से विनोद-नाटच, मुरली वापस देने का आश्वासन देना और फिर जहां से क्रिया आरम्भ हुई वहीं आ जाना कि मेरे पास तो है ही नहीं, एक दोहे ही में यह सारी बातें इस स्वाभाविक माधुर्य के साथ भरना बिहारी-जैसे कुशल कवि के लिए ही संभव हो सकता है। कैसी मीठी आंखमिचौनी है कि पहचानने का नाम ही नहीं लेती—

प्रीतम दृग मींचत प्रिया पानि-परस सुखु पाइ ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति जनाइ ।।

वह क्यों 'जनावे', कर-स्पर्श का अतीव आनन्द जो उसे प्राप्त हो रहा है पहिचानने पर तो उसकी आंखों से वह कर-स्पर्श दूर हो जायगा।

बिहारी का वियोग-वर्णन चमत्कारपूर्ण अवश्य है किंतु उसमें वियोग की गहराई सर्वदा प्रतिलक्षित नहीं होती। नायिका की अवस्था देखकर हम हँस देते हैं। उसके साथ कोई सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकते। दो-एक उदाहरण लीजिए—

औंधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरति बिललात ।
बिचहीं सूख गुलाब गौ छींटौ छुई न गात ।।

और भी युक्ति की गई : यह युक्ति जाड़े में तो किसी प्रकार काम कर गई : किंतु ग्रीष्म ऋतु में क्या होगा—

सीरें जतननु सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-ताप ।
बसिबे कौ ग्रीषम-दिननु परचो परोसिनि पाप ।।

इधर देखिए : विरह के कारण नायिका की क्या दशा हो गई है—

इत आवति चल जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सें रहे, लगी उसासनु साथ॥

यह लीजिए परम्परा का पालन करता हुआ विरह-वर्णन—

हौं ही बौरी विरह वस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाम॥

इतना सब-कुछ होने पर भी मौत उस तक नहीं पहुंच सकती क्योंकि प्रथम तो विरह-अग्नि के कारण वहां तक जाना ही कठिन है फिर—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छांड़तु नीच।
दीने हूँ चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच॥

उसी भाव को अन्यत्र देखिए—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने-कोने ढूंढ़ती फिरती कजा थी मैं न था॥

(२) उक्ति-वैचित्र्य और विनोद—विहारी के कहने का ढंग निराला था, नित्य नई-नई बातें उपस्थित करते थे—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियै दई, नई यह रीति॥

यदि नई रीति ही नहीं होती तो विहारी की निगाह ही कैसे पड़ती, या यों कहिए कि विहारी की दृष्टि ने ही उसमें नवीनता ला दी है। आंसुओं का छनछनाकर भाप बन जाना कितनी विचित्रता से हो रहा है —

पलनि प्रगटि वरुनीनि वढ़ि नहिं कपोल ठहरांय।
अँसुवा परि छतियां छनक छनछनाय छपि जांय॥

पानी पीने पर भी प्यासा रहना—

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जुन चख तृषा बुझाइ॥

और विचित्रालंकार का उदाहरण देखिए—

मरिवे को साहस कियौ बढ़ी बिरह की पीर ।
दौरति है समुहं ससी सरसिज सुरभि समीर ।।

विनोद तो बिहारी का स्वाभाविक गुण प्रतीत होता है। गम्भीरता में भी विनोदप्रियता अपना काम करती है—

कहा लेहुगे खेल में तजौ अटपटी बात ।
नैंक हँसौहीं ह्वै गई भौंहैं सौंहैं खात ।।

कृष्ण के साथ कैसा विनोद हो रहा है, कृष्ण जी आनन्द तो ले ही रहे होंगे—

बतरस लालच . . . . .आदि ।

और यह देखिए मुरली मिल गई—

उन हरकी हँसिकै इतै, इन सौंपी मुसकाइ ।
नैंन मिलें मन मिलि गए दोऊ मिलवत गाइ ।।

दोनों की नोंक-झोंक या यह विनोद और व्यंग्य—

बाल कहा लाली भई, लोइन कोइन मांह ।
लाल, तिहारे दृगनु की, परी दृगनु में छांह ।।

(३) चित्रण-कुशलता—किसी भी घटना अथवा प्रसंग का वर्णन करने में बिहारी बहुत ही दक्ष हैं। बिहारी ने चेष्टाओं, हावों, अनुभावों, मुद्राओं और कार्य-व्यापारों का अच्छा वर्णन किया है। कवि का निरीक्षण बहुत ही गहरा है और साथ ही व्यक्तिगत भी । इसी कारण उनका चित्रण बहुत ही स्वाभाविक और हृदयग्राही है। जूड़ा बांधने का सामान्य दृश्य कितनी भावुकता के साथ चित्रित किया है—

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस, पटु डारि ।
काको मन बांधै न यह जूरो-बांधन हारि ।।

नवीन प्रेमियों को पारस्परिक संभाषण का अवसर कम मिलता है, कभी गुरुजनों का और कभी लोक-निन्दा का भय, किंतु बिहारी ने अपने प्रेमियों

को इस कठिनाई से भी छुड़ा दिया है और सारी प्रक्रिया 'कहने' से लेकर 'लजाने' तक सब प्रकार के व्यक्तियों से भरे भवन में नयनों द्वारा ही सम्पादित कर दी है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, हिलत, मिलत, लजियात ।
भरे भौन में करतु हैं नैनन हीं सों बात ।।

'वातें' ही नहीं सम्पूर्ण व्यापार सम्पादित हो जाता है—मिलन तक का आनन्द ले लिया जाता है और उसके फलस्वरूप लज्जा का भी । एक दृश्य और देखिए—

भौंह ऊंचै, आंचरि उलटि मौरि मोरि, मुंह मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि ।।

एक नायक महोदय को देखिए, नाक चढ़ाना और सी-सी का आनन्द लेने के लिए कंकरीली राह से ही ले जा रहे हैं—

नाक चढ़ै सीबी करैं जितै छबीसी छैल ।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल ।।

एक नायिका की कँटीली भौंह हृदय को कैसा वश में कर ले गई है, वह थोड़ी देर का दृश्य हृदय पर कितने समय के लिए अंकित हो गया है—केवल स्मृति-मात्र ही नहीं है, वहां तो हृदय में कोई चीज आ गई है जो उस नायिका का सर्वदा स्मरण दिलाती है—

नासा मोरि, नचाइ दृग करी कका की सौंह ।
कांटे सी कसकति हिये अजौं कटीली भौंह ।।

यदि 'गागर में सागर भरने' की उक्ति किसी के द्वारा पूर्णरूपेण चरितार्थ हुई है तो विहारी के द्वारा । पूरी कहानी, पूरा क्रिया-कलाप, सम्पूर्ण व्यवस्था, ४८ मात्रा के छोटे 'दोहा' जैसे छंदों में उपस्थित कर दी गई है । संस्कृत के कवियों ने जिसे लम्बे-लम्बे श्लोकों में लिखा, हिंदी के शृंगारी कवि जिसका वर्णन लम्बे कवित्त और सवैयों में न कर पाये वे ही वर्णन अधिक विस्तार, सफाई और व्यवस्था के साथ विहारी ने

हमारे सामने दोहों में ही उपस्थित कर दिये । इस उक्ति को हमें मानना ही पड़ता है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर ।
देखन कों छोटे लगें घाव करें गम्भीर ॥

(४) प्रकृति-वर्णन—ग्रियर्सन महोदय ने बिहारी को भारत का थॉम्पसन कह कर सम्मानित किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहारी ने प्रकृति का निरीक्षण सूक्ष्म दृष्टि से किया और उसके अनेक व्यापारों को समझकर उन्हें मानवी जीवन में सम्मिलित करने की चेष्टा की । प्रकृति के अनेक उदाहरण लेकर मानवी व्यापारों को समझाने का सफल प्रयत्न किया । यह मानना पड़ेगा कि बिहारी ने प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इस प्रकार कोई वर्णन नहीं लिखे, उनको भूमि बनाकर उन पर अनेक प्रकार की निर्माण-क्रिया की गई है। एक प्रकार से प्रकृति-वर्णन बिहारी का क्षेत्र था भी नहीं, उन्हें तो शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं, नीति की कुछ बातों का चित्रण-भर करना था, और मुक्तक के छोटे आकार में प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में स्वच्छंद विहार का अवकाश भी नहीं हो सकता था । प्रचलित षट्-ऋतु-वर्णन की परम्परा भी बिहारी में नहीं मिलती । वैसे तो ऋतु-सम्बन्धी और बातें हैं जैसे—

शिशिर—आवत जात न जानियत तेजहि तजि सियरान ।
घरहि जमाई लो घरचो खरचो पूष दिनमान ॥

ग्रीष्म— कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥

वर्षा— पावत निसि अँधियार में रह्यौ भेद नहिं आन ।
राति द्यौस जान्यो परत लखि चकई चकवान ॥

(किंतु इस निरीक्षण में ग़लती हो गई क्योंकि वर्षा-ऋतु में चक्रवाक नहीं होते—पं. पद्मसिंह जी ने इसका उत्तर भी दिया है) ।

प्रकृति की कुछ अन्य बातों का भी वर्णन है। जैसे सन, वन, ऊख और अरहर वाली उक्ति—

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौ धर धर हर हिय नारि॥

सूर्य के उदय होने पर ओस नहीं रहती, इस सामान्य बात का कितना सुन्दर वर्णन किया है—

मोहि लजावत निलज ये हुलसि मिलैं सब गात।
भानु उदय की ओस लौं मान न जान्यो जात॥

एक ही समय पर कई ऋतुओं का होना भी बिहारी ने बता दिया और उनका स्थान, लक्षण होने पर भी, कल्पना से ही परिवेष्टित कर दिया—

यह बसन्त न खरी गरम अरी न सीतल बात।
कह क्यों प्रगटे देखियत पुलक पसीजे गात॥

वसन्त में गरमी और सरदी दोनों एकत्र हो गई हैं। एक का लक्षण पसीने में और दूसरे का रोमांच में दिखाया गया है। किंतु है—वसन्त जिसमें नायक के सन्निकर्ष से नायिका की यह अवस्था हुई।

(५) नीति-भक्ति-दर्शन—वैसे तो बिहारी का प्राथमिक उद्देश्य शृंगार-वर्णन है, किंतु उनके द्वारा स्थान-स्थान पर नीति, भक्ति आदि विषयों का भी वर्णन हुआ है। अनेक टीकाकारों ने तो नियमपूर्वक कुछ शृंगारिक दोहों के बाद नीति का एक-एक दोहा लगाया है। किसी ने दस का क्रम माना है, किसी ने बीस का। इसमें संदेह नहीं कि बिहारी ने दुनियां को अच्छी तरह देखा और अपने अनुभव को काव्य का रूप दिया। इनकी नीति बहुत प्रभावशाली और अनुभवपूर्ण है एवं व्यावहारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है। नीति-वर्णन में कवि ने अपनी काव्य-साधना को नीचे नहीं गिरने दिया।

यमक संयुक्त 'सुवर्ण' का दोष सुनिए—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥

बिहारी नहीं चाहते कि गुणी जनों का अपमान हो। उनके लिए उपदेश दिया गया है कि वे गुणियों का निरादर करने वाले स्थानों से दूर चले जायें—

चले जाहु ह्यां को करैं हाथिन कौ व्यौपार।
नहि जानत यहि पुर वसैं धोबी और कुम्हार॥

उपदेश के साथ एक अच्छा व्यंग्य भी है। नम्रता से मनुष्य की उन्नति होती है, इसका बड़ा युक्तियुक्त उदाहरण बिहारी ने दिया है—

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतौ ऊँचो होइ॥

भक्ति-वर्णन में हम बिहारी को किसी 'मतवाद' में नहीं फँसा सकते। उनकी भक्ति तो सीधी-सच्ची है जिसमें भगवान् का निर्गुण, सगुण सभी प्रकार का रूप सामने रहता है। कृष्ण के साथ राधा की ओर भी बिहारी का श्रद्धा-सम्मानयुक्त ध्यान है—

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तनु की झाईं परे स्याम हरित द्युति होय॥

अपनी भक्ति-भावना को काव्य-साधना से सौंदर्ययुक्त बना दिया है। कुछ लोग तो मानते हैं कि उनके भक्ति-सम्बन्धी दोहे उनके काव्यत्व का प्रसार करने के हेतु हैं। उक्तियों में बांकापन है, व्यंग्य है और कवित्वपूर्ण उद्‌गार हैं। उलाहना देखिए—

थोरेंही गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनो भए आज काल्हि के दानि॥

परन्तु बाह्य आडम्बर को बिहारी भी नहीं मानते। हृदय में प्रभु के प्रति सच्चा भाव होना चाहिए, ऐसा भक्त ही भगवान् को अच्छा लगता है—

जप माला छापें तिलक सरै न एको काम।
मन कांचै नाचै वृथा, सांचै रांचै राम॥

भगवान् के प्रति उनकी शुद्ध भावना भी यत्र-तत्र देखी जाती है और सब कोई बाहरी झंझटों को छोड़कर उनकी शरण में जाने की कामना करते दिखाई देते हैं, संभव है किसी विषम परिस्थिति के कारण रसिक बिहारी का यह दैन्य हो :—

हरि, तुमसौं कीजति यहै बिनती बार हजार ।
जिहिं तिहिं भाँति डरचौ रह्यौं परचौ रहौ दरबार ॥

किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिपादन बिहारी की उक्तियों से नहीं होता । कहीं-कहीं कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों की छाया अवश्य आ जाती है; जैसे—

'एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ'

बिहारी की कामना है कि भगवान् का यह रूप सर्वदा उनके हृदय में विराजमान रहे :—

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उरमाल।
इहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥

कला-पक्ष——

बिहारी के काव्य का बाह्य स्वरूप भी आकर्षक है। उनकी भाषा, अलंकार-प्रयोग, छंद-निर्माण, पांडित्य-प्रदर्शन आदि भी उनकी कविता को चार चांद लगा देते हैं ।

(१) भाषा—'वाग्विभूति' में मिश्रजी ने लिखा है, "बिहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था । उनके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं । आधुनिक समय में रत्नाकर जी ने भी वैसा ही अधिकार दिखाया है । इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए । भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा ही अधिकार रखने वाला कोई मुक्तक रचनाकार नहीं दिखाई पड़ता ।"

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है । स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे खड़ीबोली, बुन्देलखंडी, अवधी, अरबी, फ़ारसी ।

विदेशी भाषाओं के शब्द भी हैं। कुछ उदाहरण ये हैं :—

अवधी— रही कराहि कराहि अति, अब मुंह आहि न आहि।
बुंदेलखंडी— चिलक चिकनई चटक स्यौं, लछति सटक लौं आइ॥
फ़ारसी शब्द—रस की सी रुख, ससिमुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
दृग पग पोंछन को कियो जैसे पायंदाज़।

इनकी भाषा में माधुर्य, चित्रमयता, गूढ़ता और समास-निर्माण के अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं। बिहारी की शब्द-योजना 'स्पष्टतः असाधारण' है जिससे घंटे बँधे हुए हाथी के चलने की-सी ध्वनि सुन पड़े और उससे मधुभौंर-गुंजरित मलय समीर की व्यंजना हो।' बिहारी की भाषा अभिव्यंजना की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है। उनके वाक्यों की बनावट चुस्त है और व्याकरण के नियमों का प्रायः अनुसरण करती है। कहीं-कहीं ऐसी शब्दावली का योग किया है जिसमें वस्तु-सम्बन्धी ध्वनि निकलती है :—

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान-मद नीरु।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीरु॥

समासों का प्रयोग करने के लिए संस्कृत-शब्दावली का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि ब्रजभाषा समास-बहुल नहीं है। एक उदाहरण :—

'विकसित-नवमल्ली कुसुम निकसत परिमल पाइ।'

सतसई में स्थान-स्थान पर मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। जैसे—

'खरी पातरी कान की', 'डौड़ी दै गुन रावरै कहत' आदि।

बिहारी की भाषा चलती हुई होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना बहुत चुस्त है और शब्दों के व्यवहार की एक निश्चित प्रणाली है। ब्रजभाषा के कवियों में साधारणतः प्रचलित तोड़-मरोड़ की प्रणाली बिहारी में नहीं मिलती। कहीं-कहीं संक्रोन (संक्रमण), समर (स्तर) इस प्रकार के रूप मिल जाते हैं—वैसे बिहारी इस दोष से मुक्त हैं।

(२) छंद—बिहारी-सतसई में केवल दो ही छंदों का प्रयोग मिलता है—दोहा तथा सोरठा। ये दोनों छंद ४८ मात्रा के होते हैं और परस्पर सम्बन्धित हैं। दोहों के द्वारा भाव की व्यंजना करना एक कठिन कार्य है। 'गागर में सागर भरने' की उक्ति यहीं निभानी पड़ती है। दोहे का जो शास्त्रीय नियम है उसका पूर्ण निर्वाह तो किसी कवि द्वारा नहीं हुआ परन्तु साधारणतः बिहारी के दोहे दोष-रहित हैं। इस छोटे-से छंद को ग्रहण करते हुए भी बिहारी ने समास-पद्धति का प्रयोग किया है तथा भावों और क्रियाओं में चुस्ती लाये हैं और पूरे प्रसंग को दोहे के अन्दर बन्द कर दिया है। एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति देखिए—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियँ, दई नई यह रीति॥

इसी कठिनाई के कारण संस्कृत के कई अन्य कवियों ने बड़े छंदों को ग्रहण किया है, जैसे अमरूक ने 'शार्दूलविक्रीड़ित' छंद पसन्द किया, और प्राकृत कवियों ने 'गाथा' छंद। बिहारी का दोहा एक छोटा-सा स्तवक है जिसमें सशक्त एवं संक्षिप्त भाषा का प्रयोग हुआ है। 'इनके दोहे क्या हैं—रस के छींटे हैं' जिनका प्रभाव बहुत हृदयग्राही होता है।

(३) अलंकार—बिहारी में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों मिलते हैं। इनके प्रत्येक दोहे में अलंकार ढूँढ़ने की चेष्टा की गई है—अनेक टीकाओं में प्रत्येक दोहे की व्याख्या करते समय अलंकार का भी निर्देश किया गया है। हो सकता है कि कुछ दोहों का निर्माण अलंकार सामने रखकर ही किया गया हो, किंतु अधिकतर स्थानों में अलंकार स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

यमक का प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए—

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

अथवा—हरिनी के नैनानु तों हरि नीके ये नैन।

श्लेष का उदाहरण—

"को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।"

'गाय-बैल' के इस जोड़े में ग्रामत्वदोष माना जाता है, किंतु श्लेष की दृष्टि से यह काफ़ी प्रसिद्ध है।

अनुप्रास भी बहुत मिलता है—

'हरी हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि'

अथवा—'अंजनु रंजनु हूं बिना खंजनु गंजनु नैन।'

अर्थालंकार के अनेक भेद बिहारी की रचना में उपलब्ध होते हैं। टीकाकारों तथा आलोचकों ने लगभग सभी अलंकारों को बिहारी की सतसई में खोज निकाला है। यह लीजिए विरोधाभास का प्रसिद्ध उदाहरण—

तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूढ़े बूढ़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥

कल्पना की रमणीयता से संयुक्त एक उत्प्रेक्षा दर्शनीय है—

छिप्यौ छबीलौ मुंहुं लसै, नीलै अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी कै तीर॥

इधर देखिए, कैसा इंद्रधनुष बन रहा है :—

अधर धरत हरि कै परत, ओठ दीठि पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी, इंद्र-धनुष रंग होति॥

तद्‌गुण अलंकार अपने सामान्य रूप से कई गुना बढ़ गया है। एक उपमा अलंकार भी जिसमें उपमान लुप्त है—

करे चाहसों चुटिक कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खूंद सी नैन॥

सतसई का प्रत्येक दोहा किसी-न-किसी अलंकार का उदाहरण है। अलंकार में स्वाभाविकता है और साथ ही तीव्रता भी।

(४) रस—रस की दृष्टि से बिहारी में शृंगार-रस का ही आधिक्य है। संयोग तथा वियोग शृंगार के दोनों पक्षों का अच्छा चित्रण है। कहीं-कहीं हास्य के छींटे भी हैं :—

व्यास की प्रियतमा जी की मुस्कराहट देखिये—

परतिय दोष पुरान सुनि लखी मुसकि सुखदानि ।
कस करि राखी मिश्रहू मुंह आई मुसकानि ।।

बीभत्स भी लोगों ने ढूंढ़ निकाला है :—

बहक न ईहि बहना पने जब तक बीर बिनास ।
बचं न बड़ी सबील हूं चील्ह घौं सुवा मास ।।

भगवान् की स्तुति में शान्त-रस मिलता है । अद्भुत और अन्य कई एक रस भी न्यूनाधिक रूप में मिलते हैं । एक उदाहरण भावशबलता का भी—

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।"

शृंगार की दृष्टि से 'काव्य-साधना' में अन्यत्र लिखा जा चुका है ।

(५) पांडित्य—सतसई के दोहों में हमें अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनसे उनकी विस्तृत 'जानकारी' का पता लगता है । सांसारिक विषयों के तो बिहारी जानकार थे ही, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक विषयों में भी दखल रखते थे, निर्गुण की व्यापकता देखिए—

दूरि भजत प्रभु पीठी दं गुन बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुनि निकट रहि चंग-रंग-भूपाल ।।

संसार की असारता से भी बिहारी अपरिचित नहीं थे—

मैं समुझ्यो निरधार यह जगु कांचों कांच सौ ।
एकै रूप अपार प्रतिबिंवित लखियतु जहां ।।

गणित का ज्ञान—'कहत सबै बेंदी दिए आंक दस गुनो होत ।' इससे भी बढ़कर—'बंक विकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत ।'

यद्यपि यह कोई ऐसा गणित नहीं जिससे बिहारी का गणितज्ञ होना सिद्ध हो जाय, तदपि हम यही कह सकते हैं कि गणित-सम्बन्धी बातों का बिहारी ने अपनी कविता में भी उपयोग किया है । यह कवि का निरीक्षण है, बुद्धि-विशालता नहीं । हां, ज्योतिष की कोई एक उक्ति उनके ज्ञान का परिचय अवश्य देती है—

मंगल बिंदु सुरंग, ससिमुख केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत ।।

ज्योतिष का सिद्धांत है कि जब बृहस्पति और मंगल के साथ चन्द्रमा एक राशि पर आता है तो देश-व्यापिनी वृष्टि होती है——

"गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकार्णवां महीम्" ।

अथवा——भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि ।
इंदुकला कुज में बसी, मनौ राहु-भय भाजि ।।

वैद्यक के ज्ञान में विषम ज्वर का इलाज :——

यह बिनसत नग राखि कै जगत बड़ो जस लेहु ।
जरी विषम-जुर ज्याइये आय सुदर्शन देहु ।।

विषम ज्वर में जलती हुई को 'सुदर्शन' देकर जीवन-दान मिल सकता है । इतिहास, पुराण आदि का भी बिहारी को ज्ञान था और ज्योतिष में तो वे पूर्ण पारंगत थे ही ।

स्थान——

मिश्रबन्धुओं ने बिहारी को मध्यत्रयी में स्थान दिया था, किन्तु लोग चाहते थे कि उनका नाम बृहत्त्रयी में दिया जाता । देव इतने बड़े कवि नहीं थे जितने बिहारी । इस प्रसंग को लेकर हिन्दी-साहित्य में काफ़ी चख-चख रही । बिहारी के भक्तों का कहना है कि उनका एक-एक दोहा विशेषताओं का आगार है । मुक्तक की जो भी विशेषता किसी रचना में हो सकती है वह बिहारी में मिलती है । उनका कहना है : "जिस कवि की कविता तीन सौ वर्षों से लोगों को काव्यानन्द देती चलती आ रही है, जिसकी वाग्धारा नाना प्रकार के विप्लवों के युग की अशांति को चीरती हुई अब भी ज्यों-की-त्यों रसिकों को स्नान कराने के लिए बह रही है, जिसकी कविता में बूड़ने वाले तो पार लग सके पर जो ऊपर ही हाथ फेंकते रहे वे डूब गये, उस अमर कवि की वाणी साहित्य से रुचि रखनवालों को सदा आनन्द दती रहेगी ।"* कुछ इसी प्रकार डॉ.

* विश्वनाथ प्रसाद

ग्रियर्सन ने कहा था : "मेरी समझ में उनकी या उन्हीं के भाई-बंधु किसी दूसरे भारतीय कवि की किसी प्रतीच्य कवि से ठीक-ठीक तुलना नहीं की जा सकती । मैं तो योरुप की किसी भी भाषा में बिहारी की-सी रचना की जोड़ से अभिज्ञ हूं ।"†

अपने वक्तव्य में पं० पद्मसिंह जी ने बताया—"बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही गहरी, गूढ़ और गंभीर है । कोई भी टीकाकार अपने अनुवाद द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्य-भरित भाव-सौंदर्य को यथार्थतया अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका ।"

'भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर'

कुछ विद्वानों ने बिहारी को इतना ऊंचा नहीं माना है । अनेक स्थानों पर न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, ग्रामीणता, अश्लीलता आदि दोष निकाले हैं । भाषा-संबंधी दोष भी हैं, लिंग का भी अन्तर पड़ा है, जैसे—'अवधि-दुसासनु' स्त्रीलिंग की पुलिंग से उपमा । क्रमभंग के दोष भी हैं, जैसे 'पसीजे गात पर पुलक का होना' । अलंकारों के कुछ शास्त्रीय दोष भी बताये गये हैं । समय-समय पर इनका समाधान हुआ है और पं० पद्मसिंह ने तो अपनी फड़कती भाषा में दोष देखनेवालों को बड़ी करारी सुनाई है । पं० रामचन्द्र शुक्ल जी‡ का मत इस प्रकार है—"बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वर-धारा कुछ काल तक गूंजती रहे । यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक-एक दोहे पर ही संतोष न करते । मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता ।" शृंगार-योजना को भी निम्न भूमि पर रहना बताया गया है—प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं ।

सारी बातें छोड़ कर जब हम सतसई के प्रचार और प्रभाव पर ध्यान देते हैं, काव्य-पठन के बाद और उसके साथ ही विनोद तथा आनन्द को

† लालचन्द्रिका, ‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास ।

विचारते हैं और उक्ति की विचित्रता देखते हैं तो इसमें संदेह नहीं रहता कि बिहारी को बहुत सफलता मिली। सामान्य लोगों के काव्यानन्द के लिए बिहारी-सतसई बहुत उपयुक्त है। हां, काव्य की उच्च भूमि का विचार करने वाले आदर्शवादी मर्मज्ञों को उसमें उतनी विशेषताएँ न मिल सकीं तभी तो बिहारी का स्थान हिन्दी के बड़े कवि तुलसी, सूर आदि के बाद ही रखा गया है। अपने मुक्तक क्षेत्र में शृंगार की व्यंजना करनेवाले ये महाशय साहित्य के क्षेत्र में एक अलग ही स्थान रखते प्रतीत होते हैं।

आचार्य कवि केशवदास

आविर्भाव—

केशव का आविर्भाव भी हिन्दी-साहित्य के उस सुविख्यात काल में हुआ जिसे उसका 'स्वर्ण-युग' कहा जाता है। भक्ति-काल हिन्दी-काल की चरमोन्नति का काल है। 'जिस काल में ऐसे बड़े-बड़े महात्माओं ने कवि-कर्म स्वीकार करके तल्लीनता की अवस्था में हृदय की रागिनियों का अमृतवर्षी आलाप किया था और जिस काल में बड़े-बड़े नृपतियों तक में उनके स्वर में स्वर मिलाने की साध उत्पन्न हुई थी, हिन्दी-साहित्य के उस काल की महिमा अपार है। उस काल में देश की सच्ची स्थिति पहचानने वाले पुरुषों ने आत्म-प्रेरणा से सुन्दर साहित्य की सृष्टि की थी, उस काल में प्रकृति ने स्वयं कवियों की लेखनी पकड़ कर उनके लिए काव्य रचा था। उस काल का साहित्य अलंकारों के अनपेक्षी, शब्द-जाल-शून्य सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, उसमें बाहर से बनाव-शृंगार करने की चेष्टा नहीं की गई है, वह आंतरिक है।" (डा. श्यामसुन्दरदास) यही हमारे भक्तिकाल की संक्षिप्त व्याख्या है जिसमें कबीर-जैसे राम-रहीम की एकता के संस्थापक एवं निर्गुण प्रेममय भक्ति के उन्नायक कवीश्वर हुए, मलिक मुहम्मद जायसी जैसे प्रेम की पीर को लेकर प्रेमकाव्य के रचयिता हुए, राम-भक्ति के महान् प्रवर्तक तुलसी-जैसे महाकवि का आविर्भाव हुआ, अष्टछाप भक्तों के सिरमौर सूर-जैसे मधुर स्वरलहरी से हृदय को उद्वेलित कर देने वाले कृष्ण-भवित के महाकवि तथा प्रभु के प्रति आत्मोत्सर्ग करके आत्मनिवेदन करने वाली मधुर-कंठ गायिका मीरा का प्रादुर्भाव हुआ था। केशव के आविर्भाव का भी यही काल है। इन्हें तुलसी का समकालीन माना जाता है। हिन्दी के कई समालोचकों ने साहित्य में सूर और तुलसी के पश्चात् केशव का स्थान माना है—

'कविता करता तीन हैं तुलसी, केशव, सूर'

जहां पूर्वोक्त कवि-पुंगवों ने लौकिक चित्रण को ईश्वरोन्मुख कर आध्यात्मिक आदर्शों की स्थापना की, वहां केशव ने पहली बार काव्य की शास्त्रीय मीमांसा करके काव्य-रचना के पांडित्यपूर्ण आदर्श को प्रतिष्ठित किया। इन्होंने जहां एक ओर रामकाव्य के अन्तर्गत 'रामचन्द्रिका' की रचना की, वहां रीतिकाल के अन्तर्गत 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को भी रचा, साथ ही चारणकाल के आदर्शों को ध्यान में रखकर 'रतन-बावनी', 'वीरसिंहदेव चरित', 'जहांगीर-रसचंद्रिका' प्रशस्ति-काव्य भी लिखे। इस प्रकार केशवदास के काव्य में चारणकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के आदर्शों का समुच्चय पाया जाता है। हम केशवदास को भक्तिकाल और रीतिकाल की संधि पर खड़ा देखते हैं। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं।

जीवनवृत्त—यह हमारा सौभाग्य है कि केशव के समकालीन कवियों के समान उनका जीवनवृत्त अन्धकाराच्छन्न नहीं है। केशव ने 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' में अपना परिचय कुछ विस्तार के साथ दे दिया है। रामचन्द्रिका में यह परिचय निम्न छंद में दिया गया है :—

सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव।
कृष्णदत्त प्रसिद्ध है महिमिश्र पंडित राव॥

गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि कै जिन पाइयो मत साध॥

दोहा—उपज्यो तेहि कुल मन्दमति, शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास॥

कविप्रिया में भी पहले दो प्रभावों में कवि ने अपने और अपने आश्रयदाताओं के वंशजों का विस्तृत वर्णन दिया है। इन अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर केशव का जीवन-वृत्त निर्माण करने में विद्वानों को सुविधा हो गई है। वे सनाढ्य जाति के ब्राह्मण थे। उनका वंश आरंभ से ही सरस्वती का कृपाभाजन रहा, जिस कारण उनके पूर्वपुरुष संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे। केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र ओरछा-नरेश रुद्रप्रताप के शासनकाल में ओरछा

में आकर बस गये थे। 'नगर ओरछो जिन कियो' (कविप्रिया) के अनुसार इन्हीं रुद्रप्रताप ने ओरछा नगर की नींव डाली थी। रुद्रप्रताप के पुत्र मधुकर-शाह हुए। कृष्णदत्त मिश्र के पुत्र काशीनाथ मधुकरशाह के दरबार में थे। ये काशीनाथ सर्वशास्त्रों के ज्ञाता थे और इन्होंने अन्त में संत-मत को अंगीकार कर लिया था। काशीनाथ के तीन पुत्र हुए—बलभद्र, केशवदास और कल्याण दास। पिता की मृत्यु के पश्चात् राजदरबार में बलभद्र मिश्र को पिता का स्थान मिला। ये 'नख-शिख' ग्रंथ के लेखक कहे जाते हैं। मधुकरशाह के पुत्र रामशाह (दूल्हाराम) जब अपने पिता के सिंहासन पर बैठे तो उन्होंने राज्य की व्यवस्था का सारा भार अपने छोटे भाई इंद्रजीत पर ही छोड़ दिया था। ये इंद्रजीत केशव का गुरु के समान आदर-सम्मान करते थे। इन्होंने केशव को इक्कीस गांव दिये थे। इंद्रजीत के संबंध में केशव का निम्न पद प्रसिद्ध है :—

भूतल को इंद्र इंद्रजीत राजै जुग जुग।
केशवदास जाके राज राज सो करत है॥

स्पष्ट है कि उस राज्य में केशव का विशेष प्रभाव था। इंद्रजीत के अन्य भाइयों में रतनसिंह, वीरसिंह और रामसिंह अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। केशव ने रतनसिंह और वीरसिंह की प्रशस्ति के रूप में 'रतन-बावनी' और 'वीरसिंह-देव-चरित' काव्यों की रचना की।

ऐसा ज्ञात होता है कि इंद्रजीत को साहित्य, संगीत और कला से विशेष प्रेम था। उनके दरबार में कई वेश्याएं भी थीं, जिनमें प्रसिद्ध 'प्रवीण राय' सब की अग्रणी थी। प्रवीण राय केशव की शिष्या थीं और अच्छी काव्य-रचना करती थीं। उसने काव्य-शिक्षा केशव से ही ली थी। उसी के अनुरोध से केशव ने 'कविप्रिया' काव्य की रचना की थी।

कहते हैं कि अकबर के मंत्री राजा बीरबल का केशव के साथ विशेष स्नेह था। जब बादशाह ने ओरछा-नरेश पर एक लाख रुपया जुर्माना कर दिया तो उसे क्षमा करवाने के लिए केशव आगरा गये और राजा बीरबल को अपनी काव्य-शक्ति से प्रसन्न कर उनसे बादशाह से सिफ़ारिश करवा

कर इस जुर्माने को माफ़ करवा दिया। इससे स्पष्ट है कि केशव राज-दरबारों में प्रभाव जमाने की कला में विशेष दक्ष थे। इस कार्य के लिए जिस ज्ञान-बाहुल्य, वाग्विदग्धता, निपुणता एवं कला-कुशलता आदि गुणों की आवश्यकता होती है वे सब गुण केशव में पर्याप्त मात्रा में थे। उनके काव्यों में भी इन गुणों का विशेष रूप से प्रदर्शन हुआ है। केशव को अपने कुल की प्रतिष्ठा और अपने ज्ञान का पर्याप्त अभिमान भी था। संस्कृत-साहित्य में पारंगत, विद्वानों के वंश में उत्पन्न होकर संस्कृत-साहित्य में स्वयं भी पांडित्य प्राप्त करने वाले पंडित केशव को समय के प्रभाव से भाषा में काव्य-रचना करने में कुछ आत्महीनता का अनुभव हुआ होगा जो इस दोहे से द्योतित होता है :—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास॥

केशव का अभिमान केवल थोथा गर्व नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जिस विषय को उन्होंने हाथ में लिया उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। हिन्दी के काव्यमर्मज्ञ उनके 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' ग्रंथों को 'रीतिग्रंथों के सिरमौर' मानते हैं; रामचन्द्रिका का भी हिन्दी-साहित्य में विशेष मान है।

महाकवि बिहारी केशव के शिष्य कहे जाते हैं। बिहारी के पिता का नाम केशवराय था, जिस नामसाम्य के कारण कई लोग बिहारी को कवि केशव का ही पुत्र मानने लगे। परन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। उस समय ओरछा के पास गुढ़ो नाम के गांव में नरहरिदास एक महात्मा रहते थे जिनके पास केशव प्रायः आया-जाया करते थे। बिहारी के पिता इन नरहरिदास के शिष्य थे। ये ग्वालियर में रहा करते थे। धर्मपत्नी की मृत्यु के पश्चात् ये अपने पुत्र बिहारी को लेकर ओरछा आकर ही रहने लगे थे। महात्मा नरहरिदास जी के अनुरोध से बिहारी को केशव ने कुछ समय अपने पास रखकर साहित्य और काव्य-रीति की शिक्षा दी थी। गुरु की चमत्कारवादिता और पांडित्य-प्रदर्शन की स्पष्ट छाप बिहारी की रचना

में लक्षित होती है।

केशव जहांगीर बादशाह के समय में भी थे। उस समय इंद्रजीत के भाई वीरसिंह ओरछा के राजा हो गये थे जो जहांगीर के अत्यन्त कृपापात्र थे। 'वीरसिंह-देव-चरित' इन्हीं वीरसिंह की स्तुति में लिखा गया था। स्यात् वीरसिंह के अनुरोध से ही केशव ने 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' लिख कर बादशाह का स्तुति-गान किया हो।

केशव के जीवन-वृत्त का इतना ज्ञान हो जाने पर भी उनके जन्म और स्वर्गवास की तिथियों का पता नहीं चल सका है। उनके जन्म के संबंध में विद्वानों ने तीन संवत् माने हैं :—

(१) संवत् १६०८ (मिश्रबंधु), (२) सं० १६१२ (रामचन्द्र शुक्ल तया डा. रामकुमार वर्मा), (३) सं० १६१८ (लाला भगवान-दीन और डा० बड़थ्वाल)। इसी प्रकार इनकी निधन-तिथि के बारे में कोई सं० १६७४ और कोई १६८० मानते हैं।

रचनाएँ—अब तक खोजों के आधार पर केशव के सात ग्रंथ प्रामाणिक माने जाते हैं—(१) रसिकप्रिया, (२) कविप्रिया, (३) रामचंद्रिका, (४) रतनबावनी, (५) वीरसिंह-देव-चरित, (६) जहांगीर-जस-चंद्रिका, (७) विज्ञान-गीता।

इनके अतिरिक्त इनके तीन ग्रंथ और बतलाये जाते हैं :—

(१) नख-शिख (नायिका-भेद), (२) रामालंकृत-मंजरी, (३) छंदशास्त्र का कोई एक ग्रंथ। इनमें से प्रथम ग्रंथ का प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, काशी से हो चुका है और अन्य दो ग्रंथों का अभी तक कोई पता नहीं। कई लोगों का विचार है कि रामालंकृतमंजरी ही कथित छंद-शास्त्र का ग्रंथ है। डा. रामरतन भटनागर का इस विषय में यह कथन है, "रामचंद्रिका की कुछ प्राचीन पोथियों में कुछ छंदों के लक्षण भी उनके साथ दिये गये हैं और उनमें रामालंकृतमंजरी का हवाला है। रामचंद्रिका में कवि ने केवल छंदों का पग-पग पर परिवर्तन किया है। यह स्पष्ट है कि कम-से-कम कुछ अंशों में यह ग्रंथ पिंगल-काव्य का उदाहरण-मात्र है, या

इसके छंद किसी पिंगल-ग्रंथ के लिए लिखे गये थे और बाद में 'रामचंद्रिका' में इकट्ठे कर दिये गये। 'रामचंद्रिका' में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की सामग्री को भी पूर्णतः अपनाया गया है अतः यह संभव है।" इस कथन की पुष्टि भावी खोज पर ही निर्भर है। बालचरित्र और हनुमान जन्म-लीला नाम के दो और ग्रंथ भी केशव के कहे जाते हैं परन्तु इनकी प्रामाणिकता अभी तक संदिग्ध है।

उपर्युक्त ग्रंथों में 'विज्ञानगीता' केशव की वृद्धावस्था की रचना है। इस समय इनकी प्रवृत्ति अध्यात्म और दर्शन की ओर हो गई प्रतीत होती है। इस ग्रंथ को कवि ने सं. १६६७ में समाप्त किया और उसके बाद राज-सेवा से अवकाश ग्रहण करके वे पत्नी सहित गंगा-सेवा को चले गये। इस ग्रंथ में रूपक शैली को अपनाया गया है और वैराग्यमूलक ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कथा-प्रसंग बाँध कर रूपक द्वारा मानसिक भावों की विवेचना की गई है। इसकी रचना में कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक की शैली का अनुकरण किया गया है। इस ग्रंथ के अनेक छंद बहुत सुन्दर हैं।

'रतन-बावनी' को केशव की सर्वप्रथम रचना कहा जाता है। इंद्रजीत-सिंह के छोटे भाई रतनसेन ने सोलह वर्ष की अल्पायु में ही युद्ध-भूमि में अपना पराक्रम दिखलाते हुए वीरगति को प्राप्त किया था। इन्हीं रतनसेन की वीरता का वर्णन इस प्रशस्ति-काव्य में किया गया है। प्रथम कृति होने की दृष्टि से इसे सुन्दर रचना कहा जा सकता है। वीर-रस का यह अच्छा काव्य है।

'वीरसिंह-देव-चरित' भी एक प्रशस्ति-काव्य है जिसकी रचना साधारण कोटि की है। यह इंद्रजीत के छोटे भाई वीरसिंह की वीरता की गाथा है। यही वीरसिंह बाद में केशव के आश्रयदाता हुए थे।

जहांगीर-जस-चंद्रिका—वीरसिंह जहांगीर के कृपापात्रों में से थे। जब वे ओरछा की गद्दी पर अधिष्ठित हुए तो उन्होंने अपने आश्रयदाता जहांगीर की प्रशस्ति में केशव को उक्त ग्रंथ लिखने का अनुरोध किया

प्रतीत होता है। इसमें आश्रयदाता के आश्रयदाता का गुणगान है। यह अत्यन्त साधारण रचना है। उक्त तीनों प्रशस्ति-काव्यों में कविता की दृष्टि से 'रतन-बावनी' की और ऐतिहासिक दृष्टि से 'वीरसिंह-देव-चरित' का कुछ महत्त्व है। इन तीनों काव्यों में हिन्दी-साहित्य के चारण-काल के आदर्शों की छाप है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केशव का मन इन काव्यों में रमा नहीं। ये रचनाएँ उनके दरबारी जीवन के प्रभाव की ही परिचायक हैं।

केशव की ख्याति के मुख्य आधार 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'रामचंद्रिका' हैं, जिनका काव्य और काव्यशिक्षा की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। 'रसिकप्रिया' की रचना सं० १६४८ और 'कविप्रिया' की सं० १६५८ में हुई। कविवर अयोध्यासिंह जी ने इन दोनों ग्रंथों के बारे में इस प्रकार कहा है—"मेरा विचार है कि केशवदास जी की कवि-प्रतिभा का विकास जैसा इन ग्रंथों में हुआ, दूसरे ग्रंथों में नहीं। क्या भाषा, क्या भाव, क्या शब्द-विन्यास, क्या भाव-व्यंजना, जिस दृष्टि से देखिए यह दोनों ग्रंथ अपूर्व हैं।" इन्हीं ग्रंथों के साथ केशव ने हिंदी में रीति-ग्रंथ रचना का सूत्रपात किया। यद्यपि इनसे कुछ ही वर्ष पूर्व कृपाराम ने 'रस-निरूपण', मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगारसागर' और करणेस ने 'करणाभरण' आदि ग्रंथों की रचनाएं की थीं, परन्तु हिन्दी में 'रीतिशास्त्र' को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय सर्व-प्रथम केशव को ही है। संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रंथों का उस समय पर्याप्त प्रचार था। संस्कृत में काव्यांगों का सर्वांगीण निरूपण हो चुका था। हिन्दी के कवियों पर इन्हीं संस्कृत-ग्रंथों का विशेष प्रभाव था। परन्तु उनकी पद्धति पर अभी तक हिन्दी में किसी ने काव्यांगों का निरूपण नहीं किया था। यह कार्य सर्वप्रथम केशवदास ने किया। इन दो ग्रंथों को हिन्दी में उपस्थित कर केशव ने एक नये पथ का प्रदर्शन किया और काव्य के सभी अंगों का विशद निरूपण किया। रीति-संबंधी सब विषयों का जैसा विशद वर्णन इन ग्रंथों में मिलता है वैसा न केशव के पूर्ववर्ती और न ही परवर्ती रीतिग्रंथों में मिल सकता है। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर केशव को हिन्दी के प्रथम आचार्य का

पद दिया गया है। यही नहीं काव्यत्व की दृष्टि से भी केशव के इन्हीं दो ग्रंथों का ही विशेष महत्त्व है।

'रसिकप्रिया' केशव की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह एक रस-ग्रंथ है, जिसके विषय शृंगार-रस-शास्त्र और नायिकाभेद हैं। इसमें शृंगार-रस को विशेष प्रधानता दी गई है और शेष रसों को शृंगार के भीतर ही समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्रधानतया केशव शृंगार-रस के ही कवि हैं। इस ग्रंथ में केशव ने पहले विषय का लक्षण दिया है और तदनन्तर कवित्त और सवैयों में उसके उदाहरण। रीतिकाव्य की इस प्रकार के कवित्त और सवैयों की परम्परा का आरम्भ केशव से ही हुआ। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण की जिन रूढ़ियों का निर्माण केशव ने किया, बाद में रीतिकाल के कवियों ने काव्य-मीमांसा में इन्हीं रूढ़ियों का अनुकरण किया। यद्यपि इस ग्रंथ के रीति-विवेचन में उन्हें इतनी सफलता नहीं मिल सकी, परन्तु उदाहरण के रूप में दिये हुए कवित्तों और सवैयों में उनका कवि-कौशल मूर्त्तिमान हो उठा है। वस्तुतः केशव का काव्योत्कर्ष जिस प्रकार इस ग्रंथ में प्रस्फुटित हुआ है उनके अन्य काव्यों में नहीं हो सका। केशव की काव्य-प्रतिभा, उनकी रसता और सहृदयता के सर्वोच्च दर्शन इस रचना में ही होते हैं। इसमें जितनी सुन्दर उनकी शब्दविन्यास-प्रणाली है, उतनी ही मधुर भाव-व्यंजना भी है। इसमें केशव ने 'प्रसाद गुण' और 'माधुर्य वृत्ति' पर भी अपना पूरा अधिकार प्रदर्शित कर दिया है। जिन्हें केशव के कवि-रूप के दर्शन करने हों वे 'रसिकप्रिया' का पाठ करें। यद्यपि यह ग्रंथ रीति-संबंधी है पर वस्तुतः इसके काव्यत्व का अत्यधिक महत्त्व है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा——

कोमल विमल मन विमला सी सखी साथ
कमला ज्यों लीने हाथ कमल सनाल के।
नुपूर की ध्वनि सुनि मोरे कलहंसन के
चौंकि चौंकि परें चारु चेटवा मराल के।

कंचन के भार कुचभारनि सकुच भार
लचकि लचकि जात कटि तट बाल के।
हरैं हरैं बोलत विलोकत हरेंई हरैं
हरैं हरैं चलत हरत मन लाल के॥

इसमें 'विमल विमला', 'कमल कमला' में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। इसी प्रकार 'कंचन के भार कुचभारनि सकुच भार' में कवि की नायिका का ऐश्वर्य, सौंदर्य और लज्जाशीलता दर्शनीय है। इसी प्रकार 'चौंकि चौंकि परैं चारु चेटवा मराल के' में केशव ने भाषा-सौंदर्य का एक मूर्त चित्र उपस्थित कर दिया है। 'हरैं' शब्द के चमत्कार को इसी पद की अन्तिम दोनों पंक्तियों में उपस्थित कर कवि ने कमाल कर दिखाया है। इस प्रकार के अनेक पद इस रचना में स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी 'कविप्रिया' का दूसरा स्थान है। यद्यपि आचार्यत्व की दृष्टि से इसका स्थान 'रसिकप्रिया' से भी अधिक महत्त्व रखता है। यह काव्य-शिक्षा का ग्रंथ है और इसमें अलंकार-शास्त्र का भी अनुशीलन है। इस ग्रंथ की रचना में 'अलंकार-शेखर', 'काव्यादर्श' और 'कविकल्पलतावृत्ति' का आधार लिया गया है। इसमें भी 'रसिकप्रिया' की पद्धति का ही अनुसरण किया गया है, अर्थात् दोहे में पहले लक्षण दिया गया है और फिर उदाहरण। इस ग्रंथ में काव्य के सभी अंगों का विधिपूर्वक वर्णन है। भामह, उद्भट, दंडी आदि आचार्यों ने अलंकार के अन्तर्गत ही रस-रीति आदि को परिगणित किया है। केशव ने भी उसी परम्परा का पालन किया। अलंकारों के लक्षणों का आधार दंडी का काव्यादर्श है, और अन्य काव्यांगों के लिए केशव अमर-कृत 'काव्य-कल्पलता-वृत्ति' और केशव-मिश्र-कृत 'अलंकार-शेखर' के ऋणी हैं।

इसके तीसरे प्रवाह में कवि ने अठारह प्रकार के दोष बताये हैं। इनमें से पहले पांच दोषों के नाम अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक दिये हैं जो संस्कृत के रीति-ग्रंथों में नहीं मिलते। यह केशव की मौलिकता है। 'कविप्रिया' के पन्द्रहवें प्रभाव में नखशिख-वर्णन आया है। इसी वर्णन

को उनकी एक पृथक् रचना 'नखसिख' के रूप में भी माना जाता है। इस ग्रंथ में भी 'रसिकप्रिया' के समान उदाहरणों के पद अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें भी 'रसिकप्रिया' के पदों के समान काव्योत्कर्ष, भावमयता, प्रसाद-गुण और सरसता पाई जाती है। 'रामचंद्रिका', 'रसिकप्रिया' और 'विज्ञान-गीता' के अनेक सुन्दर पद इस ग्रंथ में उद्धृत किये गये हैं। केशव का यह ग्रंथ उनके अन्य सभी ग्रंथों से अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसकी अनेक टीकाएँ हुईं। इस ग्रंथ का प्रचार राजस्थान में अधिक रहा है। बहुत-से लोगों ने इसी ग्रंथ से कविता करना सीखा। कवि होने के लिए इसका अध्ययन आवश्यक समझा जाता रहा है।

काव्य-शिक्षा के इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त कवि ने पिंगल पर भी एक ग्रंथ लिखा था, जिसके बारे में पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रकार आचार्य केशव ने काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, नख-शिख, छंदशास्त्र आदि सभी अंगों का हिन्दी में सांगोपांग अनुशीलन करने का द्वार खोल दिया। यद्यपि केशव के पश्चात् रीति-ग्रंथों की जो परम्परा चली वह केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्य भामह, उद्‌भट आदि के मार्ग पर न चल कर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली तो भी प्रथम पथ-प्रदर्शक तथा सर्वांगीण काव्यनिरूपक होने के नाते केशव को ही इस दिशा में अग्रणी होने का श्रेय प्राप्त है। कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने ठीक ही उन्हें हिन्दी का 'भामह' और 'उद्‌भट' कहा है।

रामचन्द्रिका—यह केशव की एक प्रसिद्ध प्रबंध-काव्य-रचना है। इसकी गणना हिन्दी के उत्कृष्ट महाकाव्यों में की जाती है। रचनाकाल काव्य में ही दे दिया गया है—

सोरह सै अट्ठावनै कातिक सुदि बुधवार।
रामचंद्र की चंद्रिका तब लीन्हौ अवतार।।

इस अन्तःसाक्ष्य के अनुसार रामचंद्रिका की रचना कातिक शुक्ला बुधवार को सं० १६५८ में हुई। ग्रंथ के आरम्भ में इसकी रचना के बारे में महर्षि वाल्मीकि के स्वप्न-दर्शन का उल्लेख किया है और रामचंद्रिका की

रचना का प्रेरणा के रूप में उन्हीं के आदेश की ओर संकेत किया है—

'न रामदेव गाइहैं। न देवलोक पाइहैं ।।'

इसी उपदेश के कारण 'केशवदास तांहि करचो रामचन्द्र जू इष्ट' और संकल्प किया कि

'तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागें ।।'

इससे यह ज्ञात होता है कि कवि ने वाल्मीकि-रामायण को ही इस रचना का आधार माना है। रामचन्द्रिका के अनेक वर्णनों का आधार वाल्मीकि-रामायण तो है ही परन्तु इसके अतिरिक्त कवि पर संस्कृत के हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' के भी विशेष प्रभाव लक्षित होते हैं। इस ग्रंथ की रचना 'हनुमन्नाटक' के आदर्श पर ही की गई जान पड़ती है। इसमें उनतालीस प्रकाश या अध्याय हैं, जिनमें बाल्यकाल से लेकर रामचरित का वर्णन किया गया है। यह महाकाव्य जहां केशव की अक्षय कीर्ति का आधार माना जाता है वहां आधुनिक समालोचकों के वाद-विवाद और मत-संघर्ष का भी एक अखाड़ा बन गया है। इसके समालोचकों के दो पृथक् दल पाये जाते हैं। एक उनका दल है जो इसके महाकाव्यत्व की अक्षुण्णता प्रमाणित करने के लिए सदा कमर कसे रहते हैं, और दूसरा उनका जो इसे महाकाव्य की दृष्टि से साधारण रचना सिद्ध करते हैं। वास्तव में विद्वन्मंडली के इस विचार-संघर्ष से केशव का महत्त्व और भी अधिक हो गया है। स्थानाभाव के कारण यहां इस विषय पर प्रकाश डालना असंभव है; केवल कुछ प्रधान विषयों पर ही संक्षेप में कुछ कहा जायगा। सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि क्या केशव की रामचन्द्रिका को सफल प्रबंध-रचना समझा जा सकता है अथवा नहीं ?

प्रबंध-रचना में तीन बातें प्रमुख होती हैं—(१) सम्बन्ध-निर्वाह, (२) कथावस्तु के मर्मस्पर्शी स्थलों का चित्रण और (३) दृश्य-चित्रण की विशेषता।

सम्बन्ध-निर्वाह—प्रबंध-काव्य इतिवृत्तात्मक होता है; इसका आधार कथा होती है। कथा-प्रवाह अविच्छिन्न धारा के समान आगे बढ़ता

रहना चाहिए। "प्रबंध बँधा हुआ होना चाहिए; उसमें कथानक की जंजीर में की सब कड़ियों का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। नाटक में अगर बीच-बीच की कड़ियां छूटती जायें तो भी काम चल सकता है, किन्तु प्रबंध में नहीं।" यह सर्वमान्य है कि रामचन्द्रिका में कथा का विस्तार अनियमित है और उसके इतिवृत्तात्मक अंश का सम्यग्निर्वाह करने में कवि असफल ही रहा है। कथा-प्रवाह स्थान-स्थान पर खंडित दिखाई पड़ता है, उसमें न तारतम्य है, न अनुपात। लाला भगवानदीन जी ने भी इस विषय में यही स्वीकार किया है—"केशव कल्पना और भाव-प्रसूत विचारों को मधुर शब्दों तथा विलक्षण युक्ति से प्रकट करने की कला ही को कविता मानते थे, अतः कथा-प्रसंग को ठीक रीति से चलाने की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है, केवल कथा-प्रसंग के सामने आने वाले नैसर्गिक पदार्थों या भावों पर विलक्षण कल्पनाएं करने ही में अपनी बुद्धि अधिक खर्च की है। इस विचार से यदि केशव को 'कल्पना-पुंज' कहा जाय तो अनुचित न होगा।" केशव को चाहे और कुछ ही कहा जाय परन्तु यह निर्विवाद है कि वे सफल प्रबंध-रचयिता नहीं हो सके। इस रचना से केशव का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि वे रामचरित के अधिक उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की आकर्षक और मनोमुग्धकारी झांकियां दिखलाकर पाठक पर अपने पांडित्य एवं छंदोऽलंकार-कौशल की सम्मोहिनी डालना चाहते थे। इस प्रकार छंद, अलंकार एवं पांडित्य-प्रदर्शन के घटाटोप में उन्होंने कथा के स्वाभाविक प्रवाह का गला घोंट दिया है। परन्तु यह सब होते हुए भी 'रामचन्द्रिका' को 'मुक्तक-काव्य' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि 'इस कथा की माला में मुक्ताओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं देखी जा सकती।' रामजीवन के विविध प्रसंगों को वर्णनों के सूत्र से जोड़ने का प्रयत्न इसमें स्पष्ट है, चाहे वह सूत्र कहीं शिथिल और कहीं दृढ़ हो गया हो। केशव में प्रबंध-रचना की क्षमता अवश्य थी जिसका प्रत्यक्षीकरण उन्होंने 'रामचन्द्रिका' के उन स्थानों पर किया है जहां वे संस्कृत-काव्यों के प्रभाव से अपने-आपको मुक्त कर पाये हैं—यथा रामाश्वमेध-वर्णन और लव-कुश-युद्ध-वर्णन। "प्रबंध

काव्य की दृष्टि से सुन्दर और लंकाकांड के प्रसंग अपेक्षाकृत अच्छे बने हैं। पर सबसे श्रेष्ठ अंश हैं रामाश्वमेध-प्रकरण। कथानक, चरित्र, संवाद आदि प्रत्येक दृष्टि से वह सफल प्रबंध-काव्य का उदाहरण है। 'रामचंद्रिका' में यदि कहीं कथा दीखती है, कहीं भावुकता, सरसता, कौतूहल और प्रवाह दिखाई देता है, कहीं स्वाभाविक वस्तु-वर्णन और चरित्र-चित्रण है तो वह लवकुश-युद्ध में। रामचंद्रिका का सबसे श्रेष्ठ अंश इस युद्ध का वर्णन ही है।"

(प्रो. सहल)

कथावस्तु के मर्मस्पर्शी स्थलों का चित्रण--

"प्रबंध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं को संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले--उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले--प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त-मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बित चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों।" (शुक्ल) रामचरित्र प्रबंध-काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त कथानक माना जाता है। कवि में सहृदयता, भावुकता और संवेदनशीलता यदि है तो फिर इस कथा में उसके लिए ऐसे स्थलों की कोई कमी नहीं जिनमें वह पाठक को तल्लीन कर रसाप्लावित न कर सके। रामचंद्रिका का कवि ऐसा करने में अधिक मात्रा में असफल ही रहा है। केशव ने मानों जान-बूझकर ऐसे स्थलों में द्रुत गति से पलायन किया है। एक-दो उदाहरण ही इस बात के प्रमाण-स्वरूप पर्याप्त होंगे। राम-राज्यारोहण-प्रस्ताव और राम-वनवास की कारुणिक घटनाओं को केशव ने केवल दो-तीन छंदों में ही इतनी शीघ्रता से वर्णन कर दिया है मानों वे अत्यन्त साधारण घटनाएं हों। केशव से पूर्व और पश्चात् भी किसी कवि ने इन हृदयद्रावक दृश्यों को इतनी त्वरा से उड़ा देने की चेष्टा नहीं की, जितनी केशव ने--

दसरत्थ महा मन मोद रये। तिन बोलि वशिष्ट सो मन्त्र लये॥
दिन एक कहो सुभ सोभरयो। हम चाहत रामहि राज दयो॥

यह बात भरत्थ की मातु सुनी । पठऊं बन रामहिं बुद्धि गुनी ।।
तेहि मन्दिर यों नृप सों विनयो । वर देहु हुतो हमको जु दयो ।।
नृप बात कही हँसि हेरि हियो । वर मांगि सुलोचनि मैं जु दियो ।।
नृप तासु विसेस भरत्थ लहैं । वरषं बन चौदह राम रहैं ।।

यह बात लगी उर वज्र तूल ।
हिम फाट्यो ज्यों जीरन दुकूल ।।
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम ।
तजि तात मातु तिय बंधु धाम ।।

केवल तीन छोटे-से छंदों में ही केशव ने इस मर्मस्पर्शी घटना को चलता कर दिया है। इससे भी बढ़कर केशव की हृदयहीनता और अनौचित्य का प्रमाण राम-कौशल्या-सम्भाषण है जिसमें वन के लिए उद्यत राम अपनी माता को पतिव्रत का उपदेश देते देखे जाते हैं। पिता के जीवित रहते मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के मुंह से सती-साध्वी माता के प्रति इस उपदेश की अभद्रता की किसी प्रकार रक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार राम-भरत-मिलाप में भी केशव की सहृदयता और संवेदन-शीलता दृष्टिगत नहीं होती। उसमें भी वे ऐसे व्यापारों का चित्रण नहीं कर सके जिनसे पाठकों के हृदय को रसानुभूति प्राप्त हो। इस प्रसंग में भी केशव अत्यन्त सुन्दर स्थलों को बचा गये हैं। यही कारण है कि केशव की प्रबन्ध-रचना में वह काव्योत्कर्ष नहीं दिखाई देता जो होना चाहिए था।

दृश्य-चित्रण की विशेषता—

प्राकृतिक दृश्यों में केशव को पर्याप्त रोचकता नहीं थी। इसी कारण दृश्यों की विशेषता इनकी रचना में बहुत कम पाई जाती है। केशव के प्रकृति-चित्रण के संबंध में भी विद्वानों में परस्पर विरोध पाया जाता है। इस विषय पर भी समालोचकों के दो विरोधी दल हो गये हैं। एक लाला भगवान-दीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मिश्रबन्धु आदि का दल है जो केशव के प्रकृति-चित्रण को उच्च कोटि का बतलाते हैं। इसके विरुद्ध रामचन्द्र शुक्ल,

डा. बड़थ्वाल, आचार्य चतुरसेन और कृष्णशंकर शुक्ल आदि का दल उसे बहुत ही निकृष्ट बतलाता है। यदि वस्तुतः देखा जाय तो केशव का प्रकृति-चित्रण कहीं-कहीं उच्च कोटि का भी है और कहीं-कहीं अति निकृष्ट भी। केशव के प्रकृति-चित्रण को साधारण कोटि में खींच ले आने का मुख्य कारण उनकी स्वाभाविक अतिअलंकारप्रियता ही है। उनकी उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं आदि प्रायः कौतूहल को ही उत्पन्न करती हैं, सौंदर्य-भावना को नहीं। परन्तु जहां कहीं केशव ने अलंकारों के घटाटोप को दूर रखने का प्रयत्न किया है वहां वे सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के प्रभावशाली चित्र अंकित करने में सफल हो सके हैं। केशव के दृश्यों को उनकी कष्ट कल्पना ने ही हीन बना दिया है अन्यथा उनमें स्वाभाविक प्राकृतिक चित्र अंकित करने की भी क्षमता थी। देखिए तेरहवें प्रकाश में राम द्वारा किया हुआ वर्षा-वर्णन—

आसपास तम की छवि छाई। राति दिवस कछु जानि न जाई॥
मन्द मन्द धुनि सो घन गाजैं। तूर तार जनु आवझ बाजैं॥ इत्यादि

इसी [प्रकार रामचन्द्रिका के तीसवें प्रकाश में प्रातःकाल का वर्णन अत्यन्त सुन्दर हो पाया है। वसन्त-वर्णन भी भावपूर्ण है। इस प्रकार के अनेक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य केशव ने यत्र-तत्र अंकित किये हैं। उनके अनेक चित्र स्वाभाविक भी हैं किन्तु अधिकांश गंभीरता से भरे हुए। केशव का प्रकृति-निरीक्षण इतना सूक्ष्म नहीं था। उन्होंने प्रायः कवि-परम्परा के अनुसार ही प्रकृति का रूप चित्रण किया है। वास्तव में इन चित्रों को सजीव बनाने की ओर उनका इतना ध्यान नहीं था जितना अपने पांडित्य और बुद्धिबल के प्रदर्शनार्थ अलंकारों की चमत्कारपूर्ण छटा दिखाने की ओर। केशव में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण भी बहुत कम पाये जाते हैं परन्तु ऐसे चित्रण हिन्दी के बहुत कम कवियों में देखने को मिलते हैं। संक्षेप में हम यही कहेंगे कि केशव में प्रकृति-चित्रण की कुशलता तो अवश्य थी परन्तु वे अपने वातावरण, परिस्थितियों और काव्यादर्शों के वश में अत्यधिक थे।

रामचंद्रिका के संवाद—केशव ने अधिकतर संस्कृत के नाटकों का अध्ययन किया था। उन पर इन नाटकों की शैली का विशेष प्रभाव

था। यही कारण है कि उनकी रामचंद्रिका में उन्होंने चरित्र-चित्रण के लिए संभाषणों से पर्याप्त सहायता ली है। केशव के इस प्रबंध-काव्य में घटना-व्यापारों का उतना उत्कर्ष नहीं, जितना उनके संवादों का है। वास्तव में केशव संवादों की योजना में सबसे अधिक सफल हुए हैं। उनके विरोधियों को भी यह मानना पड़ा है कि केशव के से संवाद हिन्दी का कोई दूसरा कवि नहीं लिख सका है। इन संवादों में केशव ने नाटकीय शैली का प्रयोग करते हुए नाटकों के समान पात्र-निर्देश पाठ से अलग किया है जिससे प्रबंध-संचार में शिथिलता आ गई है। इन संवादों में अनेक गुण पाये जाते हैं। उनमें पात्रों के अनुरूप क्रोध, उत्साह आदि भावों की सुन्दर व्यंजना है। इनमें पात्रोचित शिष्टाचार का निर्वाह भी पूर्णरूपेण हुआ है। उनके परशुराम-संवाद और रावण-संवाद दोनों में ही शिष्टाचार की पूरी रक्षा हुई है। इनके संवादों में व्यंग्य की भी अच्छी छटा है। पात्रों में प्रत्युत्पन्नमतित्व भी खूब पाया जाता है। केशव के संवाद अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक और सुन्दर हैं। इसका कारण संवादों को उचित स्थान पर ही उपस्थित करने की कुशलता है। जहां कूटनीतिक या राजनीतिक दाव-पेचों के चित्र खींचना या पात्रों की नोक-झोंक के दृश्य उपस्थित करना अपेक्षित था, केशव ने वहीं संवादों की योजना की है। केशव के सबसे सुन्दर संवाद हैं——रावण-बाण-संवाद, परशु-राम-प्रसंग, रावण-अंगद-संवाद तथा लवकुश-प्रसंग के संवाद। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव का रावण-अंगद-संवाद तुलसी के रावण-अंगद-संवाद से अधिक शिष्टाचारपूर्ण और राज्यसभा के अनुकूल है और इस कारण अधिक सुन्दर भी है। केशव के संवादों की सफलता का एक कारण यह भी है कि उनकी भाषा प्रवाहमय है तथा उनमें अलंकारों की भर्ती न होने के कारण स्वाभाविकता की मात्रा अधिक है। अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि केशव के ये संवाद प्रबंध-काव्य में खटकते अवश्य हैं परन्तु उनसे पाठक को विशेष मनोरंजन भी प्राप्त हो जाता है। इन संवादों को यदि स्वतन्त्र रूप से पढ़ा जाय तो यह और भी अधिक

मनोरंजक और कौतूहलोत्पादक हो जाते हैं। इन संवादों में चटपटापन, चुलबुलापन, व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य के समस्त गुण एक-साथ दिखाई देत हैं। इन संवादों से पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है।

केशव का चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण प्रबंध-काव्य का महत्त्व-पूर्ण अंग समझा जाता है। यद्यपि चरित्र-चित्रण की ओर केशव का विशेष ध्यान नहीं है तो भी वह इतना त्रुटिपूर्ण नहीं जितना कि उनके कथा-वस्तु का संबंध-निर्वाह। रामचंद्रिका में प्रबंध-काव्य-जैसा कार्य-व्यापार न होने के कारण चरित्र का विकास नहीं हो पाया है, तो भी उनके प्रधान चरित्रों में केशव ने अनेक गुणों के क्रमिक विकास को प्रदर्शित किया है। बाबू गुलाबराय जी ने इस संबंध में यह विचार प्रकट किये हैं—"केशवदास जी का चरित्रचित्रण इतना सदोष नहीं है जितना उनका प्रबंध-निर्वाह। रामचन्द्रजी के शील और उनकी धर्मपरायणता का हमको शुरू से ही परिचय मिल जाता है। ताड़का-वध के समय उन्होंने विश्वा-मित्र से पर्याप्त तर्क किया है। केशव के राम इस अपराध से मुक्त रहते हैं। रावण-बाणासुर-वार्तालाप चाहे प्रबंध की दृष्टि से निरर्थक हो, किन्तु उसमें रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब लक्ष्मण जी की मूर्च्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलाते हैं—"लंकेश न जीवत जाय घरों।"

छंद—डा. बड़थ्वाल ने रामचंद्रिका को छंदों का अजायबघर कहा है। किसी ने इसे छंदों का पिटारा और किसी ने कोष कहा है। इस रचना में केशव ने वर्ण के छन्द से लेकर सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। प्रथम प्रकाश में एकाक्षरी छन्द से प्रारम्भ कर क्रमशः अष्टाक्षरी छंदों को आकार-वृद्धि-क्रम से उपस्थित किया गया है। जान पड़ता है—कवि ने संपूर्ण पुस्तक में इसी क्रम से छंदों की रचना करने का संकल्प किया होगा, चाहे वे आगे इसका निर्वाह न कर सके। फिर भी कवि ने छंदों के समस्त भेदोपभेदों के उदाहरण इस एक ही ग्रंथ में उपस्थित

कर दिये हैं। अनेक छंद और उनके भेदोपभेद कवि की अपनी मौलिक रचना हैं, जो किसी अन्य पिंगल-ग्रंथ में नहीं मिलते। कवित्त, सवैया, त्रिभंगी आदि हिन्दी के अपने छंद हैं। इनके भेदोपभेदों के दर्शन कराने के लिए हिन्दी-साहित्य केशव का ऋणी है। रामचंद्रिका में चौपाइयां भी बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। इनके अनेक भेदों के उदाहरण रामचंद्रिका में पाये जाते हैं। केशव ने मात्रिक छंदों का इस प्रकार आविष्कार भी किया है। वार्णिक वृत्तों का अद्‌भुत प्रेम भी केशव ने रामचंद्रिका में प्रदर्शित किया है। इन छंदों में भी अनेक छंद केशव के ही आविष्कार हैं। छन्द ही नहीं रीति के सभी अंगों के प्रति केशव ने अपना प्रेम इस पुस्तक में प्रदर्शित किया है। उन सबके उदाहरण रामचंद्रिका में पाये जाते हैं। रामचंद्रिका में विचित्र, बहुरूपिणी दीर्घ रुचि केशव की छन्द-सृजन-कुशलता का प्रमाण है। केशव को महान् 'छन्द शास्त्री' का पद निर्विवाद और निर्विरोध रूप से दिया जा सकता है। केशव के पूर्वगामी और परवर्ती किसी कवि ने इतने विविध छंदों का प्रयोग अपने काव्य में नहीं किया। वे छंदःशास्त्र के सबसे बड़े आचार्य थे।

रामकथा के साथ ही अलंकार, छंद तथा रीति के अन्य अंगों का पाठक को एक-साथ परिचय करवा देने का केशव ने प्रयास किया और इसी प्रयास में अपने महाकाव्य के प्रबंध-सौष्ठव तक का बलिदान कर दिया। केशव के प्रबंध-कवि के रूप में पूर्णतया सफल न होने के कारणों में उनकी यह प्रवृत्ति भी एक मुख्य कारण है। अलंकारों की नित्य नई छटा दिखाने एवं छंदों में पग-पग पर परिवर्तन करने के फलस्वरूप केशव के काव्य की कथा का स्वाभाविक प्रवाह स्थान-स्थान पर अवरुद्ध होता दिखाई देता है। केवल कथा-प्रवाह में ही नहीं बल्कि काव्य के भाव-शरीर पर भी कवि के छन्द-वैविध्य का हानिकारक प्रभाव पड़ा है। केशव में रस-परिपाक की कमी का कारण छंदों की शीघ्रातिशीघ्र हेरफेर है। कहीं-कहीं तो कवि ने भावों के आरोह-अवरोह के अनुरूप छन्द का सफल नियोजन किया है परन्तु कहीं-कहीं

इसके विपरीत छन्द की प्रवृत्ति ने उनके भावों को विकृत भी कर दिया है। वस्तुतः केशव के इस प्रकार के छन्द-परिवर्तन से उनके काव्य को ही नहीं उसकी गंभीरता को भी हानि और क्षति पहुंची है। संस्कृत के साहित्याचार्यों ने इसी कारण प्रबंध-काव्य के लिए अधिक छन्द-परिवर्तन का निषेध किया था और उसका विधान केवल सर्ग की समाप्ति या सर्ग-परिवर्तन पर ही किया था।

केशव ने अपने अन्य ग्रंथों में से केवल 'विज्ञान-गीता' में ही विविध प्रकार के छंदों की योजना की है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में केवल तीन ही छंदों का उपयोग किया गया है। लक्षण के लिए दोहों और उदाहरण के लिए सवैयों और घनाक्षरी कवित्तों का। 'रतन-बावनी' में वीररस के उपयुक्त छप्पय का ही प्रयोग किया गया है। 'वीरसिंह-देव-चरित' में आख्यान-काव्य के लिए अपभ्रंश काल से ही प्रचलित चौपाई-छन्द का प्रयोग किया गया है और बीच-बीच में दोहे दिये गये हैं।

अलंकार——केशव प्रधानतया काव्य-शास्त्र के आचार्य थे। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र-संबंधी प्रचलित अनेक सम्प्रदायों में से केशव ने अलंकार-सम्प्रदाय को ही प्रधानता दी है, यद्यपि सर्वमान्य रस-सम्प्रदाय को भी किसी अंश में उन्होंने स्वीकार किया है। 'रसिकप्रिया' और 'कवि-प्रिया' में उन्होंने अपने काव्य-संबंधी सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन किया है। इस एक पद से ही उनका काव्यादर्श स्पष्ट हो जाता है——

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सुरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजही कविता वनिता मित्त।।

स्पष्ट है कि केशव कविता में रस की स्थिति आवश्यक मानते थे, परन्तु अन्य सब लक्षणों से बढ़कर काव्य में वे अलंकारों के ही पक्षपाती थे। उन्होंने काव्य में रस की अपेक्षा अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया है अतः केशव अलंकारवादी थे। उन्हें चमत्कार विशेष प्रिय था। उनके अनुसार अलंकार के विना कविता हो ही नहीं सकती। अलंकार-क्षेत्र में केशव की प्रतिभा, बुद्धि और कल्पना-शक्ति विशेष रूप से

प्रस्फुटित हुई है। अपने काव्यों में केशव ने जितनी चिन्ता अलंकार-विधान की ओर दिखाई है उतनी भाव-व्यंजना की ओर नहीं। अलंकार-योजना की तीव्र धुन में केशव भावोद्रेक एवं रस-परिपाक की भी उपेक्षा करते पाये जाते हैं। वास्तव में उनके काव्य में रस-परिपाक के अभाव का कारण मुख्यतया अलंकार ही है। अलंकार के प्रयोग के लिए उन्होंने वहां भी स्थान निकाल लिया है जहां उसके लिए स्थान नहीं। अलंकार-विधान में उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का भी केशव ने कोई ध्यान नहीं रखा। अलंकारों की प्रचुरता और उनके असंयमित प्रयोगों ने केशव के काव्यों को इतना क्लिष्ट बना दिया है कि लोगों ने केशव को 'कठिन काव्य को प्रेत' तक कह दिया। इसी क्लिष्टता से तंग आकर लोगों में केशव के बारे में अनेक उक्तियां प्रचलित हो गईं—

(१) कवि को दीन्ह न चहै विदाई। पूछै केसव की कविताई।

(२) दीन्ह न चाहै बिदाइ नरेस तो, पूछत केसव की कविताई।

केशव धुरंधर विद्वान् थे। इस पांडित्य-प्रदर्शन के लिए उन्होंने अलंकार-योजना को साधन बनाया और खूब बेपर की उड़ानें लीं। कल्पना की इस बेपर की उड़ानों से केशव ने ही सर्वप्रथम इस उक्ति को चरितार्थ किया था—'जहां न पहुंचे रवि, तहां पहुंचे कवि।' केशव ने प्रायः अलंकारों के लिए ही अलंकारों का जितना प्रयोग किया है, भाव को तीव्र बनाकर उसके उत्कर्ष को व्यंजित करने अथवा मूर्त-विधान के लिए उतना नहीं। उनकी कल्पना कभी-कभी हृदय से बहुत दूर केवल मस्तिष्क की ही वस्तु होती है। यही कारण है कि उनके अलंकारों में प्रयत्न-प्रसूत अलंकार अधिक हैं। निस्संदेह केशव ने अधिकतर सुन्दर और स्वाभाविक अलंकारों को प्रस्तुत किया है। 'रामचन्द्रिका' के २८वें प्रकाश से ३२वें तक के पांच प्रकाशों में चौगान, प्रकाश, शयनागार, राजमहल, संगीत, नृत्य, शय्या, प्रभात, भोजन, वसन्त, चन्द्र, स्नान, जलक्रीड़ा आदि के अनेक वर्णन केशव के अलंकार-कौशल के श्रेष्ठ उदाहरणों से भरे पड़े हैं। इनमें उन्होंने अपनी कवि-कल्पना और

अलंकार-कुशलता का पूर्ण उपयोग किया है। उत्प्रेक्षा और श्लेष केशव के अतिप्रिय अलंकार हैं और इनका प्रयोग उन्होंने अत्यधिक किया है। श्लेष तो स्थान-स्थान पर है। सन्देह, परिसंख्या, विरोधाभास, यमक, अपह्नुति और मुद्रालंकार आदि का स्थान उत्प्रेक्षा और श्लेष के बाद है। वैसे केशव ने सभी अलंकारों के उदाहरण दिये हैं। लाला भगवानदीन के शब्दों में "अलंकारों की भरमार से केशव इनके बादशाह तो अवश्य मालूम होते हैं, पर इसी कारण इनकी कविता सर्व-साधारण के पढ़ने और समझने की वस्तु नहीं रह गई, केवल अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ ही उसकी कदर कर सकते हैं।" 'रसिकप्रिया' में जहां कवि ने अलंकारों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, उनकी कविता अत्यन्त सुन्दर, भावमय एवं प्रसादगुण से युक्त हो गई है। यही अवस्था 'कविप्रिया' की भी है। ये दोनों मुक्तक रचनाएँ हैं, फलतः अलंकार-विधान अधिक नहीं खटकता। रामचन्द्रिका एक प्रबंध-काव्य है अतः उसमें अलंकार-बहुलता पाठक को अधिक खटकती है। दो-दो अर्थ वाले पद्य ही नहीं, तीन-तीन चार-चार अर्थवाले पद्यों को प्रबंध में घुसेड़ना केशव-जैसे चमत्कारवादी को ही शोभा देता है।

भाषा—केशव की रचनाओं की भाषा प्रधानतया ब्रज है। बुन्देलखंड के निवासी होने के कारण बुन्देलखंडी भाषा और मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। ऐसा प्रायः सभी कवियों में पाया जाता है। ब्रजभाषा में संस्कृत का प्रयोग करके केशव ने उसमें विशेष साहित्यिकता लाने का प्रयत्न किया है। केशव संस्कृत के प्रकांड पंडित थे और पाण्डित्य-प्रदर्शन उनका लक्ष्य भी था, अतः संस्कृत-शब्दों का अधिक प्रयोग केशव के लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार केशव की भाषा संस्कृत-मिश्रित ब्रजभाषा है जिसमें कहीं-कहीं बुन्देलखंडी बोली के शब्दों का प्रयोग किया गया है। अरबी-फ़ारसी के शब्द भी केशव की रचनाओं में यत्र-तत्र आते हैं परन्तु केशव ने उन्हें ब्रज का रूप देकर अर्थात् तद्भव-रूप में ही प्रयुक्त किया है, जैसे—जहाज, सोर, तखत, बकसीस, दरबार, दमामे, दिवान आदि।

संस्कृत-शब्दों के प्रयोग केशव ने 'तत्सम' और 'तद्भव' दोनों प्रकार से किये हैं। केशव ने शब्दों को तब तक विकृत नहीं होने दिया जब तक कि अनुप्रास आदि अलंकार अथवा अन्त्यानुप्रास से उसे बाध्य नहीं होना पड़ा। अन्यथा केशव ने तत्सम अथवा तद्भव के प्रचलित रूपों में शब्दों को व्यवहृत किया है। केशव के भाषा-लेखन में सौकर्य की कमी है जिसका कारण एक तो उनका संस्कृत का प्रगाढ़ पाण्डित्य है, दूसरा अलंकरण-प्रवृत्ति, तीसरा छन्द-वैविध्य। इन कारणों से उनकी भाषा में वाक्य-योजना स्थान-स्थान पर अव्यवस्थित और शिथिल हो गई है। तुलसी की चुस्त और कसी हुई भाषा केशव की रचनाओं में, विशेषतः रामचन्द्रिका में नहीं पाई जाती। उन्होंने संस्कृत के प्रत्ययों से युक्त शब्दों का भी प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक कर डाला है। यथा--

निजेच्छया भूतल देहधारी।

उरसि अंगद लाज कछु गही।

लीलयैव हर को धनु साध्यो।

कहीं-कहीं संस्कृत की समास और संधि-पद्धति का भी आश्रय लिया गया है। जैसे--(१) राकस घालकता। (२) जु करी सुतभर्तु-विनासिनि जैसी। (३) मोहति मूढ़ अमूढ़ देवसंगऽदिति ज्यौं सोहै।

केशव ने संस्कृत के कुछ श्लोक भी व्यवहृत किये हैं यथा--

रामचन्द्रपदपद्मं वृन्दारकवृन्दाभिनन्दनीयम्।
केशवमतिभूतनया लोचनं चंचरीकायते ॥ (अ १. १९)

इसमें केशव ने तुलसी का ही अनुकरण किया है।

इन सब कारणों से कई लोग केशव की भाषा को ऊबड़-खाबड़ भाषा कह देते हैं। परन्तु प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त भाषा का भी केशव में अभाव नहीं है। उनकी 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की भाषा में ये दोनों गुण खूब पाये जाते हैं। वास्तव में जो छन्द केशव के अपने कहे जाते हैं, जैसे सवैया, कवित्त, वसन्ततिलका, भुजंगप्रपात आदि,

उनमें भाषा का प्रवाह भी मिलेगा और माधुर्य एवं ओजगुण भी। देखिए, सीता के मुख का वर्णन, माधुर्य और प्रसाद दर्शनीय हैं—

एक कहैं अमल कमल मुख सीताजू को,
एक कहैं चंद सम आनंद को कंद री।
होइ जौ कमल तौ रजनि में न सकुचै री,
चंद जौ तौ बास न होइ दुति मंद री।

केशव के संवादों में अत्यन्त चलती भाषा का प्रयोग हुआ है। निम्न पदों में जो व्यंग्यार्थ है उससे भाषा और भाव-सम्पन्नता की श्री-वृद्धि भी हुई है—

सागर कैसे तर्‍यो? जैसे गोपद,
काज कहा? सिय-चोरहिं देखो।
कैसे बँधायो? जो सुन्दरि तेरी,
छुइ दृग सोवत पातक लेखो॥

(जिसने परस्त्री को घर में डाल रखा है ऐसे तुम्हारी क्या दशा होगी, यह व्यंग्य है)

भृगुकुल कमल दिनेश सुनु जीति सकल संसार।
क्यों चलिहैं इन सिसुन पै डारत हौ जस भार॥

(बालक भार-वहन नहीं कर सकेंगे, अर्थात् वह यश भूमिसात् हो जायगा) और देखिए—

दै दधि।
दीन्हो उधार हो, केसव?
दानि कहा जब मोल लै खैहैं।
दीने बिना जु गयी हो गयी।
न गयी, न गयी, घर ही फिरि जैहैं।
गोहितु? बैरु कियो?
अब को हितु? बैरु किये बरु नीकी ही रैहैं।

बैरु कै गोरस बेचहुगी अहो ?
बेच्यो न बेच्यो, तो ढारि न दैहैं ।

केशव के वीरता, प्रताप और आतंक के वर्णनों में भाषा की प्रवाहमयता और ओजगुण की छटा दर्शनीय है । ब्रजभाषा में वीररस-काव्य करने की केशव की कुशलता भाषा पर उनके अधिकार का उदाहरण है । देखिए——

कोदंड हाथ, रघुनाथ, संभारि लीजै ।
भागे सबै समर जूथप, द्रष्टि दीजै ।
बेटा बलिस्ठ खर को मकराज आयो ।
संघार-काल जनु काल कराल धायो ।।

केशव ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी समुचित प्रयोग किया है ।

मुहावरे——(१) कीन्हीं सो न कान, (२) सबही मिलि द्वैज को चंद करी। (३) बीस बिसे बलवंत हुते । (४) हौं बहुतै गुन मानिहौं तेरो । (५) स्वाद कहिबे को समर्थ न गूंग ज्यों गुर खाय । (६) भाँड भये उठि आसन तें ।

कहावतें——(१) कहि केसव, आपनी जाँघ उघारिकै आप ही लाजनि को मरिहै । (२) देखिये जू आँख ताहि साख को कहा चली ?
(३) रामहू को हरी रावन नाम, चहुँ जग एक अदृष्ट बली है ।
(४) लालच हाथ रहै, ब्रजनाथ, पै प्यास बुझाइन न ओस के चाटे ।

कहते हैं——केशव ने शब्द-शक्तियों का प्रयोग बहुत कम किया है, लक्षणा-शक्ति का तो नाममात्र अर्थात् नहीं के बराबर ही । रामचन्द्रिका में यद्यपि लक्षणा के प्रयोगों की कमी है परन्तु रसिकप्रिया तो लाक्षणिक प्रयोगों से भरी पड़ी है——

(१) जलद लोचन जलद ह्वै आये री ।
(२) चित चकचौंधे मेरे मदनगोपाल को ।
(३) होत है आँखिन बीच अखारो ।
(४) सिगरेई सिंगार अंगार ह्वै लागे ।

भावपूर्ण व्यंजना के लिए रामचन्द्रिका का यह पद्य देखिए—

कौन को सुत ? बालि के; वह कौन बाली ? न जानियो।
काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानियो।
है कहाँ वह ? बीर अंगद देवलोक बताइयो।
क्यों गया ? रघुनाथ-बान-बिमान बैठ सिधाइयो ।।

अंतिम पंक्ति से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि राम के साथ विरोध करने से तेरी भी वैसी ही दशा होगी।

रामचन्द्रिका की भाषा में च्युत-संस्कृति, अक्रमत्व, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व आदि दोष भी पाये जाते हैं:—

च्युत-संस्कृति (व्याकरण-विरोध)—

(१) पीछे मघवा मोहि साप दयो। (पुंल्लिग 'शाप' के साथ 'दया' चाहिए (२) करै साधना एक परलोक ही को ('साधना' के साथ 'की' चाहिए)

अक्रमत्व— अमानुसी भूमि अबानरी करौं।

न्यूनपदत्व— पानी पावक पवन प्रभु ज्यौं असाधु त्यौं साधु।

अधिकपदत्व— उठि रावन गो मरीच जहँ मुनि।

क्लिष्टता तो केशव की भाषा की सामान्य विशेषता है, विशेषकर उन स्थानों में जहाँ श्लेष के लोभ में कवि ने दो-दो, तीन-तीन और चार-चार अर्थों को लाने के प्रयत्न किये हैं। अन्त में यह मानना पड़ेगा कि केशव की भाषा में वह प्रौढ़ता नहीं है जो बाद में रीतिकालीन कवियों में पाई जाती है।

उपसंहार—ऊपर किये गये विवेचन से केशव के गुण-दोषों का पर्याप्त दिग्दर्शन हो जाता है। केशव की 'रामचंद्रिका' पर कुछ समालोचकों की दृष्टि अति क्रूर हो गई है जिसके कि केशव उतने अधिकारी नहीं। जैसा कि प्रत्येक कवि के काव्य के बारे में कहा जा सकता है केशव का काव्य भी सर्वथा निर्दोष नहीं। सूर और तुलसी भी नितान्त निर्दोष नहीं कहे जा

सकते । किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय कवि के दृष्टिकोण को सामने रखना अत्यन्त वांछनीय होता हैं । इस प्रकार यदि केशव के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर उसके काव्य का अनुशीलन किया जाय तो निस्सन्देह केशव हिन्दी के सर्वोच्च कवियों में स्थान पाने के अधिकारी हैं और प्राचीन आलोचकों ने केशव के बारे में जिन उक्तियों का निर्माण किया हैं उनमें पर्याप्त सत्य मान लेना पड़ता है––

'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसव दास ।' और
'कविता करता तीन हैं तुलसी केसव सूर ।'

इन उक्तियों के अनुसार हिन्दी-साहित्य में केशव को जो स्थान दिया जाता हैं उसके वे अधिकारी थे, यह मानना पड़ता हैं । एक और समालोचक की यह उक्ति केशव के बारे में सच्ची प्रमाणित होती है––

उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बलबीर ।
केसव अर्थगँभीर को सूर तीन गुन वीर ॥

अर्थ-गाम्भीर्य के वास्तव में केशव सर्वोच्च कवि हैं ।

रामचंद्रिका के राम 'मानस' के राम नहीं और ना ही केशव भक्त-तुलसी थे । केशव एक दरबारी कवि थे जिन्हें अपनी परिस्थितियों एवं वातावरण को ध्यान में रखते हुए अपनी मान-मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए विद्वत्ता का प्रदर्शन करना आवश्यक था । तभी उन्होंने अपने काव्य के लिए राजा राम की कल्पना की है जिस कारण राजकीय ठाट-बाट, आन-शान और ऐश्वर्य आदि के चित्रण की ओर उनकी दृष्टि अधिक रही हैं । निस्संदेह इन चित्रणों में केशव पूर्णरूपेण सफल भी हो गये हैं । रामराज्य के राज-ठाठ का जैसा वर्णन केशव ने किया है, चन्दबरदाई को छोड़ कोई भी दूसरा कवि नहीं कर सका । इसके लिए २८वां, २९वां, ३०वां, और ३१वां प्रकाश देखने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त प्रथम प्रकाश में अयोध्या नगरी का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर हैं । इसी प्रकार राजनीति और राज-सभा के शिष्टाचार के वर्णन भी अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़े हैं । सत्रहवें प्रकाश में राजनीति-वर्णन देखिए ।

केशव शृंगार के कवि थे और उन्होंने राम-जानकी के शृंगार का विस्तृत वर्णन किया है पर कहीं पर भी भक्ति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने दिया। राम और सीता के संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार के वर्णन भी केशव के उत्कृष्ट वर्णन हैं। उनका विरह-वर्णन यद्यपि अधिकांश में अतिशयोक्तिपूर्ण है पर अतिशयोक्ति के होते हुए भी वेदना की भाव-पूर्ण व्यंजना के अनेक चित्र विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त उनका नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन भी अत्युत्तम है। राम और सीता के नख-शिख-वर्णन में केशव ने मर्यादा की पूरी रक्षा की है। प्रमाणस्वरूप छठे प्रकाश में राम जी का शिख-नख-वर्णन और ३१वें प्रकाश में सीता की दासियों का शुककथित शिख-नख-वर्णन द्रष्टव्य हैं। शिख-नख लिखने में केशव को सर्वश्रेष्ठ कवि मानना पड़ता है। तुलसी को भी सीता के शृंगार-वर्णन का साहस न हो सका था। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में भी केशव को पर्याप्त सफलता मिली है। रामचंद्रिका के युद्ध-प्रकरण वीर-रस के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। लव-कुश के युद्ध में कवि वीर-रस के परिपाक में अत्यन्त सफल हुआ है। लव-कुश के युद्ध में अमर्षपूर्ण कथोपकथन और उग्र वचनों की योजना प्रशंसनीय है। लव और कुश जहां बाणों से शरीर पर वार करते हैं वहां कटूक्तियों से हृदय पर और भी तीव्र प्रहार करते हैं। युद्ध-प्रकरण के वर्णनों में केशव की भाषा का अपूर्व ओजपूर्ण प्रवाह दर्शनीय है। वास्तव में केशव के ये चित्रण अत्यन्त ओजस्वी हैं। ब्रज-भाषा जैसी कोमल पदावलीयुक्त भाषा में वीर-रस का इतना सफल चित्रण, केशव का ही काम है। इसी प्रकार रौद्र-रस के चित्रण भी केशव ने अत्यन्त प्रभावशाली किये हैं। इसके लिए देखिए राम-परशुराम-संवाद जिसमें भाषा और छन्द दोनों ही भावानुकूल हैं। इसी प्रकार अन्य रसों के चित्रण में भी केशव को पर्याप्त सफलता मिल पाई है। केशव छन्दों के मास्टर थे और अलंकारों के विशेषज्ञ। वाग्विदग्धता कुछ तो उनके पाण्डित्य के कारण थी और कुछ परिस्थितियों के अधीन, परन्तु इसी वाग्विदग्धता के कारण केशव सुन्दर संवादों को

हिन्दी-साहित्य की भेंट कर गये। इनके संवाद भाषा और भावों की दृष्टि से ही नहीं, मर्यादा और श्लीलता, विदग्धता और मनोरंजकता, चुलवुलापन एवं चटपटापन सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट पाये जाते हैं। ये केशव के प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं प्रत्युत्तर-कौशल के प्रमाण हैं। प्रकृति-चित्रण की कुशलता के उदाहरणों की भी कमी नहीं। यदि केशव चाहते तो इसे भी और अधिक सुन्दर बना सकते थे। केशव में प्रतिभा की कमी नहीं थी, परन्तु आचार्यत्व के प्रखर प्रकाश में उनकी प्रतिभा का मधुर उजाला मंद पड़ गया है। आचार्यत्व प्रधान हो गया है और कवित्व गौण। छन्द-रचना और अलंकार-विधान की तीव्र धुन ने केशव के कवित्व में माधुर्य और प्रसाद गुणों को सर्वत्र उभरने का अवकाश नहीं मिलने दिया, जिसके फलस्वरूप उनका काव्य सर्वसाधारण के उपयोग की वस्तु न रहकर केवल मर्मज्ञ साहित्यिकों के आनन्द की वस्तु हो गया है। संस्कृत के 'वाण' और 'हर्ष' का क्या संस्कृत-साहित्य में कम आदर है? केशव भी प्रकाण्ड पण्डित थे; उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता और कल्पना की उच्च उड़ान का भी एक अपना साहित्यिक मूल्य है, और इस दिशा में केशव अप्रतिद्वन्द्वी हैं। केशव का काव्य पण्डितों के पाण्डित्य की कसौटी है, उनके ज्ञान का माप-दण्ड है, तो क्या इसी कारण उसे उपेक्षा की वस्तु मान लिया जाय? वास्तव में केशव ने विशेष और साधारण दोनों प्रकार के पाठकों के लिए प्रभूत काव्य-सामग्री प्रस्तुत कर हृदय और मस्तिष्क दोनों के विकास का क्षेत्र उपस्थित किया है, जो स्तुत्य है।

साहित्य-मीमांसा साहित्य में कितनी आवश्यक है, सभी जानते हैं। केशव के समय हिन्दी-साहित्य अत्युच्च शिखर पर पहुंच चुका था। तुलसी और सूरदास जैसे सूर्य और चन्द्र हिन्दी-साहित्याकाश को प्रकाशित कर रहे थे, उनके सामने अन्य किसी भी ज्योतिष्पिण्ड का प्रकाश नहीं ठहर सकता था। उस समय यदि आवश्यकता थी तो काव्य-मीमांसा की। केशव की तीव्र बुद्धि ने हिन्दी की इस त्रुटि को अनुभव किया और सर्वांगीण काव्य-निरूपण का मार्ग अपना कर आने वाली पीढ़ियों के लिए इस मार्ग

का द्वार खोल दिया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को सर्वांग पुष्ट करने का अभिनन्दनीय काम जो केशव ने किया उसके लिए हिन्दी वालों को उन का ऋण स्वीकार करना ही पड़ेगा।

केशव की रामचन्द्रिका एक महाकाव्य है। लक्षण-ग्रन्थों में दिये हुए महाकाव्यों के सभी लक्षण उसमें विद्यमान हैं। उसमें काव्यत्व की भी कमी नहीं। केवल प्रबन्धत्व की शिथिलता के कारण ही उसे महाकाव्य से पद-च्युत नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें शिथिलता है, ह्रास नहीं। कथा-प्रवाह टूटता नहीं, हां उसके जोड़ने वाले सूत्र कहीं-कहीं अत्यन्त सूक्ष्म हो गये हैं जिन्हें हस्तगत करने के लिए पाठक को कुछ प्रयास करना पड़ता है। केशव के पाठक को सदा सचेत रहना होता है। यह त्रुटि अवश्य है, परन्तु यदि केशव के लक्ष्य को भली भांति समझ लिया जाय तो यह त्रुटि इतनी बड़ी नहीं कि अन्य सब गुणों पर पानी फेर दे। केशव ने इस प्रबन्ध-रचना में भी आचार्यत्व और कवित्व दोनों को साथ-साथ निभाने का प्रयत्न किया जिस कारण प्रबन्ध का सदोष हो जाना स्वाभाविक ही था। यदि केशव ने छन्दों के परिवर्तन में कुछ संयम से काम लिया होता और एक-एक छन्द का कुछ अधिक कथा-भाग तक निर्वाह किया होता तो यह दोष इतना न अखरता। पर ऐसा करने से केशव सभी छन्दों को इस एक ग्रन्थ में उपस्थित करने के अपने प्रयास में सफल न हो सकते थे। यदि केशव की इस विवशता को आलोचक कुछ उदार भाव से स्वीकार कर इस काव्य पर दृष्टि डालें तो केशव के प्रति उनका आदर-भाव बढ़ेगा।

अस्तु, सामूहिक रूप में केशव की रचनाएं प्रशंसनीय हैं और केशव का कार्य अभिनन्दनीय। साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में केशव को सूर और तुलसी के बाद जो स्थान दिया जाता है वह सर्वथा उपयुक्त है। वे 'उडुगन' हैं परन्तु शुक्र के समान उज्ज्वल और प्रभापूर्ण।